शैक्षिक

संदर्भ

अंक-12, जुलाई-अगस्त 1996,
7.00 रुपए
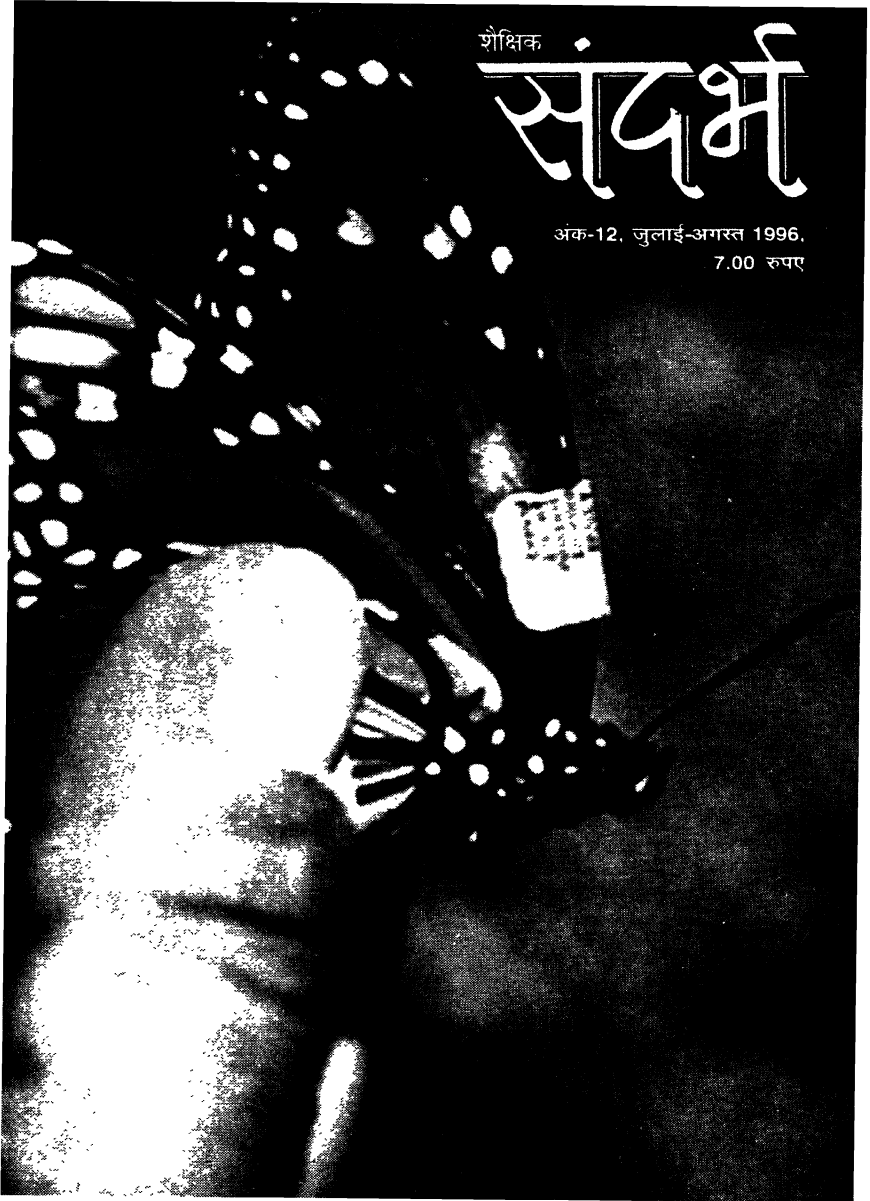
संपादन:
राजेश खिंदरी
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
हृदयकांत दीवान

सह संपादक:
माधव केलकर
दीपक वर्मा

चित्रांकन:
उमेश गौर

सहयोग:
जया विवेक
बृजेश सिंह
रामभरोस यादव

शैक्षिक
संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-12, जुलाई-अगस्त 1996

संपादन एवं वितरण:

एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद - 461 001
फोन: 07574 - 3518

वार्षिक सदस्यता (6अंक) : 35 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ: बहुत लंबे समय तक तो लोगों को मालूम ही नहीं था कि मोनार्क तितली जाड़े का मौसम आते ही कहां चली जाती है। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए कनाडा के वैज्ञानिकों ने यह तरीका अपनाया कि कुछ तितलियों के पंखों पर एक चिपकी लगा दी। इन चिपकियों पर एक पते के साथ यह भी लिखा था कि अगर किसी को ये चिपकी लगी तितली कहीं मिले तो उसे उपरोक्त पते पर भेज दें। इस तरह वैज्ञानिकों को मालूम पड़ा कि जाड़े के मौसम में ये तितलियां लाखों की संख्या में प्रवास के लिए मेक्सिको पहुंचती हैं। और बसंत के मौसम में उड़ कर वापस अपने मूल स्थान को आ जाती हैं। ऐसी ही चिपकी लगी एक तितली का फोटो।

पिछला आवरण: पृथ्वी को केंद्र में रखकर बनाया गया ब्रह्मांड का चित्र। इसे 17वीं सदी में बनाया गया था। बहुत लंबे समय तक यह धारणा बनी रही कि पृथ्वी केंद्र है और सारे ग्रह, सूर्य, चंद्रमा आदि उसके चारों ओर गोल कक्षा में चक्कर लगाते हैं। लेकिन 15वीं सदी में कोपरनिकस ने सूक्ष्म गणनाओं के बाद इस परिकल्पना को नकार दिया और पृथ्वी के बजाए सूर्य को केंद्र माना। बाद में कई और खगोल विज्ञानियों ने कॉपरनिकस के मॉडल के आधार पर गणनाएं की और सूर्य केंद्रित मॉडल को सही पाया।

इस अंक में विभिन्न किताबों से लिए गए चित्र – साभार: वर्ल्ड ऑफ वाइल्डलाइफ, *एंथनी एंड जैकलिन नेमेन* प्रकाशक: ब्लूम्सबरी बुक्स, लंदन; मॉडर्न केमिस्ट्री, प्रकाशक: होल्ट राइनहार्ट एंड विन्सटन इन्क., न्यूयार्क; बायोलोजिकल साइन्सेज़ *विलियम टी. कीटन, जेम्स एल. गूल्ड* प्रकाशक: डब्लू. डब्लू. नॉर्टन एंड कंपनी, न्यूयार्क; इनोर्गेनिक केमिस्ट्री प्रकाशक: हार्पर कोलिन्स कॉलेज पब्लिशर्स, न्यूयार्क; रूसी बाल कथाएं प्रकाशक: रादुगा पब्लिशर्स, मास्को; एनिमल बिहेवियर, *जॉन एलकॉक* प्रकाशक: सिन्योर एसोसिएट्स इन्क. पब्लिशर्स, मेसचुएट्स; इलस्ट्रेटेड हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इंडिया प्रकाशक: ऑक्फोर्ड यूनिवर्सिटीज़ प्रेस, नई दिल्ली।

इस अंक में

आपने लिखा

संदर्भ के 11 वें अंक में 'सपना तो है सिर्फ सपना' (मार्टिन गार्डनर) लेख पढ़ा। लगता है कि गार्डनर काफी हड़बड़ी में थे तभी उन्होंने सपनों के बारे में फ्रॉयड की परिकल्पना को जल्दी से खारिज कर दिया। लेकिन मार्टिन ने रेम सपनों को लेकर एक बेपैर की परिकल्पना लेख में जड़ दी — "यकीनन रेम सपनों का कोई-न-कोई फायदा तो होगा ही, वरना प्रकृति उसको ईजाद करने की ज़हमत क्यों गवारा करती? . . . रात के समय जब भोजन खोजना कठिन हो जाता है, स्तनपाई जीव अपने शरीर और दिमाग को आराम फरमाने की मोहलत देते हैं और फिर सूरज उगने तक यह सिलसिला जारी रहता है।" (पेज 41)

चूंकि रेम नींद, दिन में भी ली जा सकती है इसलिए गार्डनर की उपरोक्त दलील कमज़ोर पड़ जाती है। अभी भी सपनों पर शोधकार्य हो रहे हैं इसलिए किसी परिकल्पना को खारिज कर देना ठीक नहीं लगता।

मैंने कुछ समय पहले नतालिया गोर-बुनोवा का लेख Why Do We See Dreams (हम सपने क्यों देखते हैं) पढ़ा था। उन्होंने भी रेम और नॉन-रेम के बारे में जानकारी दी। वे भी यही लिखती हैं कि व्यक्ति को रेम नींद के दौरान उठा दिया जाए तो उसे रेम सपने तो याद रहते हैं लेकिन नॉन-रेम नींद के दौरान व्यक्ति को उठाया जाए तो उसे सपने याद नहीं रहते। उनका यह भी विचार है कि एक रात के दौरान बार-बार हम नॉन-रेम और रेम नींद से गुज़रते हैं।

नतालिया बोस्टन वि. वि. के आर. ग्रीनबर्ग और सी. पर्लमेन का हवाला देते हुए कहती हैं कि रेम नींद व्यक्ति को दिन भर के कार्यकलापों, विविध परिस्थितियों से सामना करने में मदद करती है।

नतालिया अपने लेख में लिखती हैं कि जैसा कि हम जानते हैं दिमाग का बायां हिस्सा तार्किक सोच-विचार करता है और दायां हिस्सा विविध कल्पनाएं करता है। जब नींद के दौरान तार्किक सोच-विचार वाला हिस्सा किन्हीं कारणों से थोड़ी देर के लिए काम नहीं करता तब सोता हुआ दिमाग कल्पनाएं करने वाले हिस्से से जुड़ जाता है; और कल्पना प्रधान दृश्य दिखने लगते हैं जिनका तार्किकता से कोई संबंध नहीं होता।

सपनों से जुड़ा दूसरा लेख 'मंगल ग्रह के वासी ....' (फाइनमेन) काफी उबाऊ लगा। लेख के अंत में उन्होंने तीन गेंदों वाला जो चुटकुला (मनोविश्लेषणात्मक तरीके पर व्यंग्य) सुनाया वो फूहड़ लगा।

और आखिर में भारत जैसे देश में जहां लोग भोर के सपनों के बारे में मानते हैं कि यह सच होगा या लोग स्वप्न-फल पर भरोसा करते हैं, उनके लिए फ्रॉयड की परिकल्पना के सही या गलत साबित होने से कोई फर्क पड़ने वाला नहीं है। इसलिए लेख का इंट्रोडक्शन फ्रॉयड से हटकर होता तो बेहतर होता।

आरती, बी. ए. फाइनल, जबलपुर

ग्यारहवें अंक में प्रकाशित 'प्रतिरक्षा कोशिका स्वयं को नहीं पहचान सकती' व 'सूर्य ग्रहण एक रिपोर्ट' के लिए धन्यवाद। लेकिन ए. बी. सक्सेना के लेख 'पूर्व समझ

जानना ज़रूरी' को लेकर शिकायत है कि प्रश्न के साथ-साथ उनके उत्तर को भी स्पष्ट करते चलते तो ज़्यादा अच्छा रहता। सभी आठ प्रश्न सोचने के लिए प्रेरित करते हैं, इस बात के लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

'ज़रा सिर खुजलाइए' में 'कैसे बनाया बच्चे ने संतुलन' के जवाब में बल आघूर्ण को और भी स्पष्ट करना चाहूंगा।

— यदि कोई बल वस्तु पर अक्ष के पास लगाया जाए तो उसका प्रभाव कम पड़ता है (जैसा जवाब में दिया गया है कि कम वज़न की वस्तु संतुलन बिन्दु से अधिक दूरी पर रखी गई है)। किन्तु बल अक्ष से अधिक दूरी पर लगाया जाए तो उसका प्रभाव अधिक पड़ता है; जैसे किवाड़ पर कब्जे के पास बल लगाकर उसे बंद करें तो अधिक बल लगाना पड़ता है किन्तु किवाड़ के किनारे पर कम बल लगाकर उसे बंद किया जा सकता है। इस प्रकार का एक और उदाहरण है जल पंप, जिसका हत्था लम्बा रखा जाता है।

एक मुख्य बात और, संदर्भ के संपादन, प्रकाशन से जुड़े लोगों का भी संक्षिप्त परिचय दीजिए, साथ ही लेखकों का भी। लेखकों के पते भी दिए जाने चाहिए।

रामकृष्ण सामेरिया
सिंगाजी भवन के पीछे, गली नं. 6, हरदा

पृथ्वी कितनी पुरानी?

'ज़रा सिर तो खुजलाइए' स्तंभ में 'क्यों नहीं कटी बर्फ' पढ़ा। बहुत रोचक लगा। इस स्तंभ में हम बच्चों के लिए रोचक सामग्री होती है। बाकी अनेक लेख समझ में नहीं आते, तब मैं अपने अध्यापक तथा अपने पिता से पूछती हूं। इससे मुझे बहुत फायदा होता है।

मैं कक्षा 9वीं में पढ़ती हूं। विज्ञान विषय की पाठ्य पुस्तक में एक अध्याय 'विश्व' है। इसमें विश्व के जन्म का समय 15 अरब वर्ष बताया गया है, जबकि सूर्य की उत्पत्ति 4600 अरब वर्ष पूर्व बताई गई है। तो क्या सूर्य का जन्म विश्व के जन्म के बहुत पहले हुआ?

मैंने कक्षा 11वीं में पढ़ने वाली अपनी बहन से पूछा तो उसने अपनी जीव विज्ञान की किताब में पृथ्वी की उत्पत्ति का समय 20 बिलियन वर्ष (1 बिलियन = 10 खरब वर्ष) होना बताया। ये सारी चीज़ें बड़ी बेमेल-सी लगती हैं।

कृपया संदर्भ में इस गुत्थी को सुलझाने की कोशिश कीजिए।

क्षमा बिल्लौरे
1225, जे. पी. नगर,
आधारताल, जबलपुर

पिछले अंक में 'सपना तो है सिर्फ सपना' लेख पढ़ा। चूंकि मैं दो-तीन दिनों से सपनों से घिरी हुई थी, इस विषय को देखकर पढ़ने की इच्छा प्रबल हो गई।

यह जानकर आश्चर्य हुआ कि सपने दिमाग में भरे कचरे की टोकरी हैं जिसे दिमाग बाहर निकालना चाहता है। शायद इसीलिए ये इतने अंट-शंट और बेतुके होते हैं जिनका कहीं से कहीं तक कोई मतलब नहीं निकलता। "हम भूल जाने के लिए सपने देखते हैं। सपनों को याद रखना हानिकारक है हमारा दिमाग उन विचारों को भूलना चाहता है जो सपनों में आते हैं। सपनों पर विचार करने से इसमें बाधा होती है।"

यह पंक्तियां पढ़कर मैं आश्चर्य में पड़ गई क्योंकि सपने आने के बाद मैं ही नहीं शायद सभी इन पर बहुत विचार करते हैं और उसी ओर खिंचे चले जाते हैं। मनुष्य ही नहीं कुत्ते, बिल्ली भी सपने देखते हैं यह मेरे लिए नई जानकारी थी।

सपनों के बारे में बहुत से वैज्ञानिकों के मत पढ़े। 'द ड्रिमिंग ब्रेन' में जे. एलन के विचार बहुत अच्छे लगे।

एक और बात, ईश्वर का स्वप्न में आना या उनका स्वप्न में साक्षात्कार या सशस्त्र स्वरूप दिखना क्या ईश्वर के दर्शन होते हैं? कृपया इस बारे में बताइए।

प्रियंका राय
सरस्वती विद्या मंदिर, हरदा
जिला होशंगाबाद

मार्टिन गार्डनर के इस लेख का एक प्रमुख उद्देश्य शायद यही समझाना है कि सपनों के बारे में हम आज भी बहुत कुछ नहीं समझते हैं। परन्तु यह एक ऐसा विषय है जिस पर दुनिया भर में शोधकार्य चल रहे हैं। 'सपने क्यों आते है हमें?' इसकी विवेचना करते हुए इस सवाल की बहुत-सी व्याख्याएं हैं;इस लेख में उन्होंने इन व्याख्याओं व उनके पीछे के तर्क को रखने का प्रयत्न किया है। इन्हीं में से एक मत है कि सपने दिमाग की अनुपयोगी जानकारी हटाने की एक प्रक्रिया है। इसे ही एकमात्र या सही मत मान लेना शायद बहुत उचित नहीं है।

इसकी सामग्री केवल शिक्षकों के लिए ही नहीं छात्रों के लिए भी उपयोगी है। इस पत्रिका में विज्ञान मॉडलों को भी स्थान मिलेगा तो और अच्छा रहेगा।

रजेश्वर पोरवाल, रामपुरा, मंदसौर

एक साथी के घर संदर्भ पढ़ी। बेहद रुचिकर ज्ञान का अथक भंडार मिला इसमें। वास्तव में ऐसी पत्रिका देश के विज्ञान में रुचि रखने वालों के लिए प्रेरणास्पद होगी।

महेशचन्द गुप्ता, जयपुर

शिक्षकों के लिए यह पत्रिका विशेष उपयोगी रहेगी। यद्यपि हायर सेकेंडरी के बालकों को भी पढ़ने दी जाए। यह अंक रोहना में शुरू हुई एक निजी शाला (हाई स्कूल) की लाइब्रेरी में पहुंचाऊंगा।

सुरेश दीवान, रोहना,
जिला होशंगाबाद

संदर्भ विज्ञान शिक्षण की एकमात्र संपूर्ण पत्रिका है। ग्यारहवें अंक में 'गूलर के फूल क्यों नहीं दिखाई देते?' — एक रोचक

जानकारी लगी। इसके अलावा 'ये मुसाफिर दुनिया के' और 'सपना तो है सिर्फ सपना' लेख अच्छे लगे। प्रवासी पक्षियों और पशुओं की दुर्लभ जानकारी के लिए अरविंद गुप्ते को मेरी ओर से धन्यवाद। यह पत्रिका मुझे बहुत पसंद है क्योंकि इसमें हमें विज्ञान की उच्चस्तरीय जानकारी प्राप्त होती है। पत्रिका के लेख इतने रोचक होते हैं कि इन्हें पढ़ने को मन लालायित रहता है। पिछले दो अंक मैंने अपनी एक मित्र से लेकर पढ़े हैं।

दीप्ति तोमर, कक्षा दसवीं
सेंट मेरीज़ स्कूल के पीछे, हरदा

बादल का गरजना और रेल का सफर....

इस अंक के साथ लगता है कि संदर्भ ने शिक्षा से जुड़े लोगों की दुनिया में अपना स्थान बना लिया है। इस बात का अहसास मुझे उस समय गहराई से हुआ जब मैं चंडीगढ़ से दिल्ली रेल से आ रहा था। सोनीपत के पास किसी दुर्घटना के कारण गाड़ी रोहतक हो कर आ रही थी। सो पांच घंटे का सफर आठ घंटे में होने की संभावना थी। खैर, सामने एक परिवार दो बच्चों के साथ सफर कर रहा था। उन दो बच्चों में एक बच्चा दस साल का रहा होगा, जो अपनी मां से सवाल कर रहा था। मां पूरी कोशिश कर रही थी जवाब देने की पर अक्सर चूक जाती थी या चुप हो जाती। उन बच्चों के पिता कुछ अलग बैठे थे, उदास से।

बाहर बादल थे काफी घने-काले। बिजली चमक रही थी और ज़ोरदार गड़गड़ाहट भी। स्वाभाविक था कि बच्चे का ध्यान रेल की पटरी बदलने से बादलों, बिजली व बारिश की ओर गया। उस वक्त तक मैं संदर्भ के दसवें अंक में छपे सवालीराम कॉलम में 'बादल क्यों गरजता है' पढ़ चुका था। मैंने चुपके से संदर्भ निकाली और सवालीराम वाला पेज खोलकर उस बच्चे के हाथ में दिया। बच्चे ने पढ़ने की कोशिश की फिर खिड़की से बाहर बादलों को देखने लगा। हल्की-सी बारिश शुरू हो चुकी थी। मां ने संदर्भ लेकर पढ़ना शुरू किया। उसके बाद का दृश्य देखने लायक था। मां ने बच्चे के गले में हाथ डालकर संदर्भ सामने रखकर पूरा सवालीराम पढ़ डाला। बीच-बीच में रुककर मां बच्चे को समझाती रही। बातचीत होने लगी तो पता चला कि हम सबकी समझ में पहली बार आया है कि बिजली, गड़गड़ाहट व बारिश के लिए सदा ही बादलों की आवश्यकता नहीं होती; और यह भी कि कई बार ऐसा क्यों होता है कि बिजली तो खूब दिखाई देती है लेकिन आवाज़ बिल्कुल सुनाई नहीं देती।

बात आगे बढ़ी तो देखा कि कुछ लेख भौतिक व रसायन शास्त्र के हैं तो कुछ इतिहास और गणित के। और हर लेख में कुछ ऐसे सवाल हैं जो बच्चे अक्सर पूछते हैं लेकिन शिक्षक व माता-पिता शर्म के कारण अक्सर गुल कर जाते हैं। दिल्ली में

कभी दास वंश का राज्य था यह तो सभी जानते हैं लेकिन यह शायद बहुत कम लोगों को मालूम होगा कि किन राजनैतिक व सांस्कृतिक कारणों की वजह से ऐसा हुआ। ऐसा नहीं हुआ कि केवल कुतुबुद्दीन व तुगलक राजा हो गए; बल्कि अजीज शराबवाला, फिरोज़ नाई, मनका बावर्ची, लद्दा माली आदि भी ऊंचे ओहदों पर पहुंच गए। लगता है दास युग में सचमुच सामाजिक क्रांति आ गई होगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। राजा कोई भी हो राजनैतिक ढांचा आसानी से नहीं बदला जा सकता। सब गुलाम राजा – "एक पूर्व निर्मित ढांचे को सुदृढ़ कर रहे थे। वह ढांचा सेनापतियों और उच्च अधिकारियों की सत्ता कायम करने के लिए ही बना था। ढांचा सैनिक शक्ति पर आधारित था और इसका मकसद था किसानों व कारीगरों से लगान वसूल करना ....।"

मां की शक्ल से साफ था कि वह इतिहास को कुछ अलग तरह से महसूस कर रही थी। गाड़ी रोहतक से निकल चुकी थी। रात के ग्यारह बज रहे थे। बच्चे को काफी नींद आ रही थी।

'एबेकस' पर भी चर्चा होने लगी। पिता कुछ पास में आकर बैठ गए थे अब तक। बच्चा थककर सो गया था। हमें लगा 'एबेकस' एक खिलौना है जिससे सभी बच्चे पहले खेला करते थे। अब एबेकस का प्रयोग भला कौन करता है। इस बारे में तो कोई जानकारी ही नहीं थी कि एबेकस से भाग व गुणा कैसे हो सकता है। सबसे मज़ेदार बात तो यह कि चीन व जापान जो दुनिया को कम्प्यूटर व कैल्कुलेटर बनाकर देते हैं स्वयं एबेकस का इस्तेमाल खूब करते हैं।

दिल्ली पहुंचने ही वाले थे। मां ने जल्दी से संदर्भ का पता लिखा। जाते-जाते कुछ और बातें हुईं। मुझे लगता है कि शिक्षकों और मां-बाप के लिए शायद छपाई थोड़ी मोटी होनी चाहिए। चित्र भी कुछ अधिक साफ रहें तो अच्छा लगे। और हां, थोड़ी बहुत जगह तो पत्रिका में खाली छोड़ देनी चाहिए। दिलो-दिमाग व आंखों के लिए कल्याणकारी होगा।

रमाकांत अग्निहोत्री
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मैंने प्रयोग किय

अमिताभ मुखर्जी

ज़रूरी नहीं कि प्रयोग करने के लिए हमेशा प्रयोगशाला में जाने का इंतज़ार किया जाए। अगर कोशिश की जाए तो यहां वहां पड़ी चीज़ों से भी अच्छे प्रयोग बनाए और किए जा सकते हैं, उनके पीछे छिपे विज्ञान के तथ्यों को खोजा जा सकता है। और इस दिशा में शुरुआत इन कुछ प्रयोगों से कर सकते हैं।

विज्ञान के कई ऐसे प्रयोग हैं जो घर पर मिलने वाली चीज़ों से या आसानी से उपलब्ध सामान से किए जा सकते हैं। हां, यह ज़रूर है कि इन प्रयोगों के परिणाम कभी-कभी किताबों के अनुरूप नहीं होते। फिर भी इन प्रयोगों से बहुत कुछ सीखा जा सकता है। अपेक्षित
में भी अक्सर कुछ मज़ेदार बातें छिपी होती हैं। और इसमें कोई शक नहीं कि इनको करने में बहुत मज़ा आता है। यहां मैंने भौतिकी और रसायन से जुड़े कुछ ऐसे प्रयोगों के बारे में लिखा है जो मैंने खुद करके देखे हैं।

चुम्बक के खेल

किताबों में छड़ चुम्बकों से किए जाने वाले प्रयोगों के बारे में काफी कुछ लिखा होता है। होशंगाबाद विज्ञान में छड़ चुम्बकों से कई प्रयोग भी किए जाते हैं। मुझे बचपन में एक नाल चुम्बक मिला था। उसके साथ एक साधारण लोहे का आयताकार टुकड़ा था, जो दोनों ध्रुवों पर पुल बांधकर बैठ सकता था (चित्र-1)।
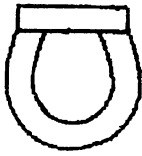
चित्र-1

चित्र-2

चित्र-3

जब चुम्बक को लोहे के बुरादे के पास ले जाते तो बुरादा उस पर चिपक जाता। पर ध्रुवों पर लोहे का पुल लगाने से बुरादा बहुत कम चिपकता। एक कागज़ पर थोड़ा-सा बुरादा रख कर उसके नीचे (चित्र-4) की तरह चुम्बक को पकड़ा और उंगली से कागज़ को हल्के-हल्के ठोका तो बुरादे से एक सुन्दर आकृति बन गई।
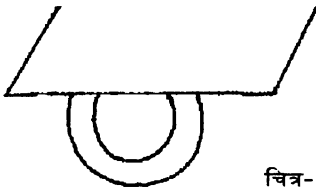
चित्र-4

यह आकृति चुम्बक के प्रभाव क्षेत्र को या चुम्बकीय क्षेत्र को दर्शाती है।

वैसे एक मज़ेदार बात और हुई। जब लोहे के टुकड़े को चुम्बक के ध्रुवों पर पुल की तरह लगाया तो उसमें बुरादा नहीं चिपक रहा था। लेकिन चित्र-5 की तरह लगाने पर उसके सिरे पर ज़्यादा बुरादा चिपका।

चित्र-5

ऐसा क्यों हुआ?

साबुन बनाना

किसी ने मुझे थोड़ा-सा कॉस्टिक सोड़ा दिया था। मैंने पढ़ा था कि तेल और कॉस्टिक सोड़ा की क्रिया से साबुन बनता है।

तेल + कास्टिक सोड़ा ⟶ साबुन + ग्लिसरीन

मैंने एक कटोरी में थोड़ा-सा मीठा तेल लिया। उसमें बहुत ध्यान से कॉस्टिक सोड़ा के कुछ रवे डाले (क्योंकि यह एक खतरनाक रसायन है)।

थोड़ी ही देर में धुनी हुई रूई की तरह साबुन बनता दिखाई दिया। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि माबुन बनने के अलावा एक और क्रिया हो रही थी — छोटे-छोटे बुलबुले बन रहे थे। जिनके बारे में किताब में कुछ नहीं था। वहां एक रसायनविद् मौजूद थे, उन्होंने इस रहस्य का समाधान किया। कटोरी एल्यूमिनियम की थी, और कॉस्टिक सोड़ा की एल्यूमिनियम से सीधी क्रिया होती है जिसमें हाइड्रोजन निकलती है। तो ये बुलबुले हाइड्रोजन के थे। जल्दी से प्रयोग को रोका, पर तब तक कटोरी में छेद हो चुका था।

इस प्रयोग को अगर घर पर करना चाहें तो कुछ सावधानियां बरतें:

— कॉस्टिक मोड़ा को हमेशा कांच की बोतल में रखें। इस को हाथ से न छुएं। इसे इस्तेमाल करते हुए थोड़ी-सी सावधानी बरतना अच्छा है।

— तेल ज़्यादा और कॉस्टिक सोड़ा कम लें, ताकि साबुन बनने के बाद ज़रा भी सोड़ा न बचे। इससे साबुन अति-क्षारीय नहीं होगा, और आप उसको इस्तेमाल कर सकते हैं।

— एल्यूमिनियम की कटोरी में प्रयोग न करें! कांच या चीनी का बरतन ठीक रहेगा।

पानी का विद्युत अपघटन

पानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का यौगिक है। विद्युत अपघटन से इन तत्वों को अलग किया जा सकता है, ऐसा किताबों में लिखा मिलता है। लेकिन पानी विद्युत का कुचालक है। अतः इसमें विद्युत धारा बहाने के लिए पहले इसको चालक बनाना होगा।

पानी में अम्ल (जैसे नींबू का रस) या क्षार (जैसे कॉस्टिक सोड़ा) डालने से यह चालक बन जाता है। लेकिन घर में करने के लिए सबसे आसान तरीका है इसमें नमक डालना।

मैंने एक गिलास पानी में थोड़ा-सा नमक घोला। फिर एक सेल के दोनों छोरों से तार जोड़कर तारों के सिरे नमक के घोल में डुबो दिए। (चित्र-6क) कुछ नहीं हुआ। फिर याद आया,
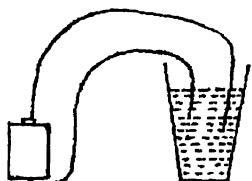
चित्र-6क
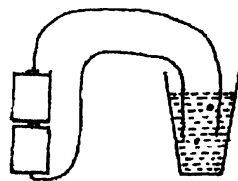
चित्र-6ख

किताब में पढ़ा था कि पानी के विद्युत अपघटन के लिए कम से कम 2.2 वोल्ट चाहिए। जबकि एक सेल केवल 1.5 वोल्ट देता है। इसलिए कम से कम दो सेल जोड़ने होंगे। मैंने दो सेल लगाए (चित्र-6ख)। लम्बे इंतज़ार के बाद लगा कि कोई क्रिया हो रही है। दो-तीन बूलबूले निकले।
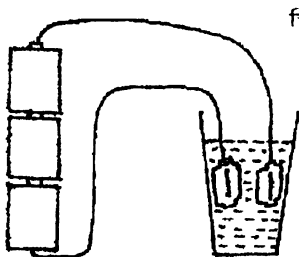
चित्र-7क चित्र-7ख

क्रिया इतनी धीमी क्यों थी? मुझे लगा कि इसके तीन कारण हो सकते हैं। एक तो सेल पुराने हो चुके थे, शायद 1.5 वोल्ट से कम दे रहे थे। अतः मैंने तीन सेल लगाए। दूसरा संभव कारण था कि चुटकी भर नमक से शायद पानी में चालकत्व कुछ कम आया था। इसलिए मैंने थोड़ा-सा नमक और डाल दिया। इन दोनों परिवर्तनों के बावजूद क्रिया बहुत तेज़ नहीं हुई। इससे लगा कि एक तीसरा कारण भी हो सकता है। जिन तारों के सिरे मैंने घोल में डुबोए थे, उनका बाहरी क्षेत्रफल बहुत कम था। दो-तीन बुलबुले सिरे से लगे रहते तो तार का पानी से संपर्क टूट जाता और परिपथ अधूरा रह जाता।

क्षेत्रफल बढ़ाने के लिए मैंने दो ब्लेड इस्तेमाल किए (चित्र-7क)। तार के प्लास्टिक को छील कर करीब सात-आठ सेंटीमीटर निकाल दिया। तार के नंगे सिरे को ब्लेड पर अच्छी तरह लपेट दिया (चित्र-7ख)। यही प्रक्रिया दूसरे तार के साथ दोहराई ।

अब प्रयोग बहुत अच्छी तरह चला। दोनों ब्लेड पर काफी तेज़ी से बुलबुले बनते दिखाई दिए। एक पर हाइड्रोजन के बुलबुले थे, दूसरे पर ऑक्सीजन के।

किताबों में लिखा होता है कि सेल के धन सिरे से जुड़े हुए तार पर

ऑक्सीजन बनती है। इस बात को कैसे जांचें? ज़रा सोचिए।

इस प्रयोग से जुड़े हुए कई प्रयोग हैं जो घर पर किए जा सकते हैं, जैसे वैद्युतिक कलई या इलेक्ट्रोप्लेटिंग।

लेंस से कागज़ जलाना

एक लेंस से कई प्रयोग किए जा सकते हैं। सबसे आसान है उसके सहारे किसी सतह पर सूर्य की किरणों को केन्द्रित करना।

किरणों के केन्द्रित होने से सतह पर बहुत छोटा-सा सूर्य का बिम्ब दिखाई देता है। इससे, एक छोटे-से हिस्से पर केंद्रित की गई ऊष्मा से कागज़ जला सकते हैं ऐसा किताबों में लिखा होता है।

जब मैंने एक सफेद कागज़ पर लेंस से सूर्य की किरणों को केन्द्रित किया तो कुछ नहीं हुआ। हाथ से परखा तो बहुत गर्म पाया। (सावधान! इससे हाथ पर छाले पड़ सकते हैं)। जब इसी प्रयोग को अखबार के टुकड़े से दोहराया तो वह सुलग उठा हालांकि थोड़ी देर इन्तज़ार करना पड़ा। मैंने ध्यान से देखा तो लगा कि आग स्याही-वाले हिस्से में लगी थी।

चित्र-४
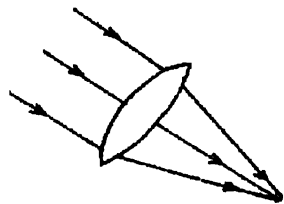
क्या स्याही वाला कागज़ ज़्यादा आसानी से जलता है? क्या यह स्याही का गुण है या काले रंग का? मैंने काले कागज़ से प्रयोग किया, उसमें काफी जल्दी आग लगी। फिर मैंने सफेद कागज़ का थोड़ा-सा हिस्सा साधारण पेंसिल से काला किया। जब किरणों को काले अंश पर केन्द्रित किया तो वह थोड़ी देर बाद सुलगने लगा।

अगर आप इस प्रयोग को दोहराना चाहते हैं तो इसको खुली जगह पर करें, ताकि जलते हुए कागज़ से कोई खतरा न हो। लेंस द्वारा केन्द्रित किरणों को शरीर के किसी भी अंश पर डालना खतरनाक है। इसकी गर्मी को परखना चाहें तो सावधानी से हाथ पर डाल सकते हैं, पर एक सेकेंड से ज़्यादा नहीं।

इन प्रश्नों के उत्तर खोजने की कोशिश कीजिए।

लाल, नीले या दूसरे रंग का कागज़ कितनी आसानी से जलता है?

क्या मोटे और पतले कागज़ में कोई फर्क है?

कागज़ को सपाट रखने से वह जल्दी जलता है या फिर उसकी पुड़िया बनाने से?

मोमबत्ती की लौ

पाठ्यपुस्तकों में मोमबत्ती की लौ का कुछ ऐसा चित्र मिलता है:

चित्र-९
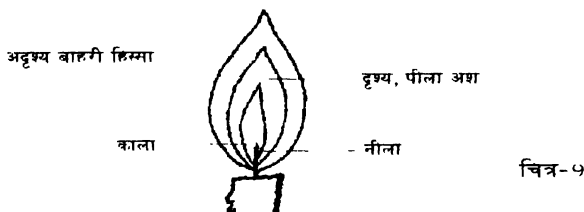
सुना है कि बाहरी अदृश्य हिस्से में तापमान सबसे ज़्यादा होता है ।
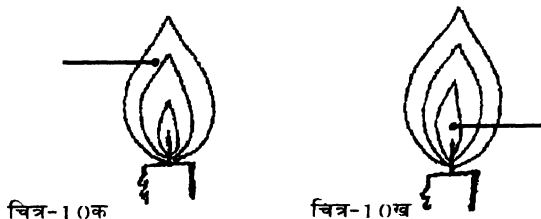
चित्र-10क

चित्र-10ख

मैंने एक बुझी हुई माचिस की तीली को लौ के ऊपर रखा (चित्र-10क)। ऐसा लग रहा था कि तीली से एक या डेढ़ सेन्टीमीटर नीचे लौ खत्म हो गई है। लेकिन तीली बहुत जल्दी सुलग उठी। इससे ज़ाहिर हुआ कि पीली लौ को घेरे हुए लौ का एक अदृश्य हिस्सा है जो बहुत गर्म है। जब मैंने तीली को नीचे से लौ के अन्दर के काले हिस्से में डाला (चित्र-10 ख), तब वह बहुत देर बाद जली। और उसका सिरा नहीं जला। इससे लगा कि लौ के

काले हिस्से का तापमान बहुत ज़्यादा नहीं है।

एक किताब में मुझे एक प्रयोग का विवरण मिला था जिसके लिए कांच की नली की आवश्यकता थी। मेरे पास कांच की नली तो थी नहीं, इसलिए मैंने सोड़ा पीने की नली (स्ट्रॉ) से यह प्रयोग किया ।
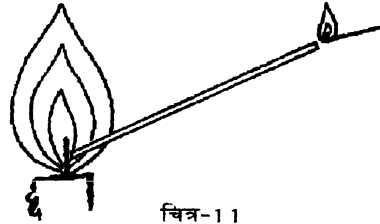
चित्र-11

मैंने लौ के काले अंश में नली का एक सिरा डाला (चित्र-11) और ध्यान से देखा कि दूसरी तरफ क्या हो रहा है। नली में धुएं जैसा कुछ निकलता दिखाई दिया। नली के दूसरे छोर पर जलती हुई माचिस की तीली लगाई तो वहां भी एक छोटी-सी लौ बन कर जलने लगी। इससे ज़ाहिर हुआ कि धुएं जैसी चीज़ ज्वलनशील थी। शायद वह मोम का ही वाष्पित रूप था।

मैंने यह प्रयोग लौ के पीले अंश के साथ किया। इस बार भी लगा कि धुएं जैसा कुछ निकल रहा है। लेकिन पहले से बहुत कम। इस धुएं को जलाने की कोशिश की, पर वह नहीं जला।

अन्त में मैंने नली को लौ के अदृश्य हिस्से में डाला, यानी पीले अंश के एक या डेढ़ सेन्टीमीटर ऊपर। नली के दूसरे छोर से कुछ निकला कि नहीं, यह कहना मुश्किल है, मुझे दिखाई तो नहीं दिया। गौर से देखने की कोशिश भी की लेकिन इतने में नली ही जलने लगी। वह नली कागज़ की थी। आजकल ज़्यादातर प्लास्टिक की नलियां मिलती हैं। मालूम नहीं इनसे यह प्रयोग कैसा होगा।

अगर आप इस प्रयोग को घर पर करना चाहते हैं तो इन बातों पर ध्यान दीजिए:

– क्या आप की मोमबत्ती की लौ में नीला अंश दिखाई देता है? यदि हां, तो उसके साथ भी यह प्रयोग दोहराइए।

– धुएं जैसी चीज़ लौ में से ही निकल रही है, नली में कोई क्रिया नहीं हो रही, यह पक्का कैसे करेंगे? अगर दो अलग-अलग किस्म की नलियां मिलें, तो बहुत अच्छा होगा।

— नली के बाहर वाले मुंह को ऊपर-नीचे करने से कोई अंतर पड़ता है?

— नली के मुंह को एक चम्मच से ढक दीजिए। चम्मच सूखा होना चाहिए, पर गर्म नहीं। कुछ सेकेण्ड रखने के बाद चम्मच की सतह को गौर से देखिए। कुछ दिखाई दिया?

आशा है कि आप भी इन में से कुछ प्रयोगों को घर पर करने का आनन्द ले पाएंगे। हो सकता है कि आपके अवलोकन मुझसे अलग हों, क्योंकि हमारी सामग्री और उपकरण एक जैसे नहीं होंगे। अगर आपको कोई नई या अनपेक्षित बात दिखाई देती है, तो ज़रूर हमें लिख भेजिए।

(अमिताभ मुखर्जी — दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिक शास्त्र विभाग में पढ़ाते हैं।)

ज़रा सिर तो खुजलाइए

तस्वीर में दिखाए मुताबिक थर्मामीटर को चल रहे पंखे के सामने रखा और उसका तापमान नोट किया। फिर उसी थर्मामीटर को उस चलते हुए पंखे के पीछे रखा और उसका तापमान लिख लिया।

आपको बताना है कि कौन-सी स्थिति में तापमान कम या ज़्यादा होगा या दोनों अवलोकन बराबर होंगे। जवाब के साथ अपना तर्क ज़रूर लिखिए।

और लिख भेजिए अपने जवाब हमें इस पते पर *संदर्भ, द्वारा एकलव्य, कोठी बाज़ार, होशंगाबाद — 461 001.*
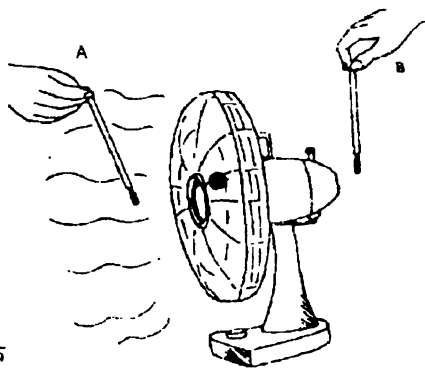
आयनिक बंध और परमाणु

सुशील जोशी

क्यों और कैसे जुड़ते हैं एक ही तत्व के परमाणु, आपस में।

गैसों के साथ गैलूसैक द्वारा किए गए प्रयोग और डाल्टन के परमाणु सिद्धांत के बीच अंतर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गया था। गैलूसैक के प्रयोगों के निष्कर्ष कुछ ऐसे निकलते थे कि परमाणु को विभाज्य मानना पड़ता था। डाल्टन के परमाणु सिद्धांत के मुताबिक तो परमाणु अविभाज्य था। इस विरोधाभास का समाधान एवोगेड्रो ने किया – अणु की अवधारणा के ज़रिए। एवोगेड्रो ने कहा कि गैसें एकाधिक परमाणुओं से मिलकर बने अणुओं के रूप में रहती हैं। उन्होंने यह भी बताया कि समान ताप व दाब पर गैसों के बराबर आयतन में अणुओं की संख्या बराबर होती है।

तो एवोगेड्रो के मुताबिक हाइड्रोजन, H के रूप में नहीं H_2 के रूप में पाई जाती है। इसी प्रकार से ऑक्सीजन O_2, नाइट्रोजन N_2, क्लोरीन Cl_2, आदि रूप में पाई जाती हैं। तब इस बात पर शंका व्यक्त की गई कि एक ही तत्व के दो परमाणु आपस में कैसे जुड़ सकते हैं।

इस शंका के मूल में उस समय रासायनिक बन्धन के संबंध में प्रचलित धारणा थी। यहां हम उन्हीं में से एक धारणा पर विचार करेंगे।

दरअसल उस समय यह तो भलीभांति पता था कि प्रकृति में कई पदार्थ (अधिकतर पदार्थ) तात्विक रूप में नहीं बल्कि यौगिक रूप में पाए जाते हैं। लिहाज़ा यह समझने की लालसा स्वाभाविक थी कि इन तत्वों को आपस में जोड़ने वाली शक्ति कौन-सी है।

सबसे पहले तो यह देखा जाए कि तत्वों को जोड़ने वाली शक्ति को लेकर कोई भी निष्कर्ष निकालने के लिए उस समय (19वीं सदी के मध्य व उत्तरार्ध में) रसायनज्ञों के पास क्या-क्या जानकारी उपलब्ध थी:

1. दो किस्म के तत्व पता थे – धातु व अधातु।
2. आकर्षण का प्रमुख बल ऋण व धन आवेशों के बीच लगने वाला बल था। गुरुत्व बल कमज़ोर था और विशिष्ट नहीं था। चुम्बकीय बल के बारे में पता था कि उसके ध्रुवों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता।
3. धातुएं सिर्फ अधातुओं के साथ क्रिया करती हैं।
4. अधातुएं धातुओं के साथ क्रिया करने के अलावा आपस में भी क्रिया करती हैं।
5. किसी भी यौगिक में तत्वों के परमाणुओं का अनुपात छोटी पूर्णांक संख्या में होता है।
6. तत्वों के कुछ समूह रासायनिक क्रियाओं के दौरान अपरिवर्तित रहते हैं जैसे SO_4^{--}, OH^- वगैरह।
7. कई धातुएं दो तरह से क्रिया करती हैं। यानी उनमें एक ही पदार्थ से क्रिया होने पर दो तरह के पदार्थ बनने की संभावना रहती है।
8. कई अलग-अलग यौगिकों के अणु सूत्र समान होते हैं जैसे इथाइल अल्कोहल और डाई मिथाइल ईथर।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर ही ऐसी परिकल्पनाएं की जाना थीं जो इन सारे तथ्यों की व्याख्या भी कर सकें। ये सारी परिकल्पनाएं करीब 1850-1870 में सामने आईं।

इस मामले में सबसे पहला सिद्धांत विद्युतीय आकर्षण का उभरा। वैसे यह स्वाभाविक भी था। विद्युत अपघटन यानी इलेक्ट्रोलिसिस का काफी अध्ययन हो चुका था – वोल्टा की सेल, डेवी के प्रयोग, फैरेडे द्वारा विद्युत अपघटन संबंधी मात्रात्मक प्रयोगों आदि से यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि कई यौगिकों का विद्युत अपघटन होने पर एक भाग (धातु) ऋण इलेक्ट्रोड की ओर जाता है और अधातु धन इलेक्ट्रोड की ओर। इसके आधार पर यह प्रस्ताव रखा गया कि धातुएं धनात्मक व अधातुएं ऋणात्मक होती हैं तथा इनमें परस्पर आकर्षण होता है। आगे चलकर इसे विद्युत संयोजकता या आयनिक बंधन कहा गया। यह आसानी से स्वीकार

भी हो गया क्योंकि ज्ञात तथ्य इसकी पुष्टि करते थे।

क्या है आयनिक बंधन

यहां हम इसी आयनिक बंधन की बात करेंगे। हमें यह बात करने के लिए मानकर चलना होगा कि परमाणु की संरचना के दो मूल घटक यानी इलेक्ट्रॉन व केन्द्रक के बारे में जानकारी मौजूद है। इलेक्ट्रॉन ऋणावेशित होता है तथा केन्द्रक धनावेशित होता है। मगर इस सबकी बात करते हुए या उनके बारे में पढ़ते हुए आमतौर पर कुछ सतर्कताएं बरतना ज़रूरी है।

पहली सतर्कता तो यह रखना पड़ती है कि अक्सर इलेक्ट्रॉन को बिन्दु, X, गोले, तिकोन आदि चिन्हों से दर्शाया जाता है। इन चिन्हों का इलेक्ट्रॉन के आकार, आकृति आदि से कोई संबंध नहीं है।

दूसरी सतर्कता कि कई बार अलग-अलग तत्वों के इलेक्ट्रॉन को अलग-अलग चिन्हों से भी दर्शाया जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन इलेक्ट्रॉनों के बीच किसी भी तरह का कोई अन्तर है।

तीसरी सतर्कता यह कि यहां जिस आयनिक बंधन की चर्चा कर रहे हैं वह कदाचित आदर्श स्थिति है। वास्तव में जो बंधन बनते हैं वे शुद्ध आयनिक बंधन न होकर कई तरह की बंधन शक्तियों के मिले जुले रूप होते हैं।

आयनिक बंधन का अर्थ यह होता है कि दो अलग-अलग तत्वों के परमाणु आयनों का रूप ले लें और ये आयन परस्पर आकर्षण की वजह से साथ-साथ टिके रहें। ज़ाहिर है कि उन्हीं आयनों के बीच परस्पर आकर्षण होगा जिन पर परस्पर विपरीत आवेश हो। इसका अर्थ यह है कि आयनिक बंधन बनने का पहला कदम आयनों का बनना होगा। तो आयन कैसे बनते हैं?

इलेक्ट्रॉन का खेल

आयन बनने की क्रिया को समझने के लिए किसी भी परमाणु की कल्पना कीजिए। परमाणु के बीचों-बीच धनावेशित केन्द्रक है और केन्द्रक के इर्दगिर्द ऋणावेशित इलेक्ट्रॉन 'चक्कर' काट रहे हैं।

केन्द्रक पर कुल धनावेश और सारे इलेक्ट्रॉनों का कुल ऋणावेश आपस में संतुलित है तथा परमाणु उदासीन है।
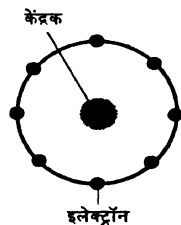
अब यदि धनायन बनाना है, तो इलेक्ट्रॉनों की संख्या में कमी करना होगी। यानी जो इलेक्ट्रॉन आवेशों के परस्पर आकर्षण की वजह से केन्द्रक

के इर्द-गिर्द 'चक्कर' काट रहा है उसे वहां से दूर हटाना होगा। और इतना दूर हटाना होगा कि वह 'मुक्त' हो जाए। ज़ाहिर है कि इस काम में ऊर्जा लगेगी। ऊर्जा की मात्रा इस बात पर निर्भर होगी कि केन्द्रक में कितना धनावेश है तथा यह इलेक्ट्रॉन केन्द्रक से कितना दूर है। इसीलिए यदि इलेक्ट्रॉन केन्द्रक के इर्द-गिर्द विभिन्न दूरियों पर हों, तो सबसे बाहर वाले इलेक्ट्रॉन को 'मुक्त' करना सबसे आसान होता है (देखिए तालिका)। इस तरह इलेक्ट्रॉन मुक्त कराकर आयन बनाने में लगी ऊर्जा को 'आयनीकरण ऊर्जा' कहते हैं।

दूसरी ओर किसी तत्व के परमाणु को ऋणायन में तब्दील करने के लिए ज़रूरी होता है कि उसमें इलेक्ट्रॉनों की संख्या बढ़ाई जाए। आवेशों की दृष्टि से संतुलित परमाणु में एक और इलेक्ट्रॉन घुसाने में भी ऊर्जा परिवर्तन होते हैं। कुछ तत्व ऐसे हैं जिनमें इलेक्ट्रॉन प्रविष्ट कराने पर ऊर्जा निकलती है जबकि अन्य तत्वों में इस क्रिया में भी ऊर्जा खर्च होती है। जब ऊर्जा निकलती है तो उसे ऋण चिन्ह दिया जाता है तथा जब ऊर्जा सोखी जाती है तो उसे धन चिन्ह दिया जाता

धनायन कैसे बनेगा: किसी संतुलित परमाणु को धनायन बनाने के लिए उसमें से इलेक्ट्रॉन मुक्त कराने की ज़रूरत होती है।

इसके लिए बाहर से अतिरिक्त ऊर्जा दी जाती है। इस आवश्यक ऊर्जा को आयनीकरण ऊर्जा कहते हैं। ऊर्जा की यह मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि इलेक्ट्रॉन केंद्रक से कितना दूर है। केंद्रक से सबसे दूर के इलेक्ट्रॉन को मुक्त कराना सबसे आसान होता है।

	Na	Mg	Al
I	496	738	578
II	4562	1451	1817
III	6912	7733	2745
IV	9544	10540	11578
V	13353	13628	14831

तालिका और ग्राफ में Na, Mg, Al के लिए यह ऊर्जा किलो जूल/मोल में दिखाई गई है। इस ग्राफ या तालिका को देखकर पता चलता है कि एक इलेक्ट्रॉन को निकालने के लिए जितनी ऊर्जा लगेगी दूसरे इलेक्ट्रॉन को निकालने के लिए उससे कहीं ज़्यादा ऊर्जा की ज़रूरत होती है। लेकिन अगर तत्व ने एक बार अष्टक संरचना (उसकी बाहरी कक्षा में आठ इलेक्ट्रॉन हो गए हैं) प्राप्त कर ली है तो अब उसमें से इलेक्ट्रॉन निकालना आसान नहीं होता। इसके लिए अत्यधिक ऊर्जा की ज़रूरत होती है। तालिका में यह स्थिति दिखाई गई है। घेरे में जो ऊर्जा की मात्रा है वह अष्टक से एक इलेक्ट्रॉन निकालने के लिए लगने वाली मात्रा है।

इलेक्ट्रॉन लगाव ऊर्जा (किलो जूल/मोल)

6	परमाणु क्रमाक
C	संकेत
-123	इलेक्ट्रॉन लगाव ऊर्जा

Group 1	Group 2	Group 3	Group 4	Group 5	Group 6	Group 7	Group 8	Group 9	Group 10	Group 11	Group 12	Group 13	Group 14	Group 15	Group 16	Group 17	Group 18
1 **H** -73																	2 **He** (21)
3 **Li** -60	4 **Be** (240)											5 **B** -83	6 **C** -123	7 **N** 0	8 **O** 141	9 **F** -322	10 **Ne** (29)
11 **Na** -53	12 **Mg** (230)											13 **Al** (-50)	14 **Si** -120	15 **P** -74	16 **S** -200	17 **Cl** -349	18 **Ar** (35)
19 **K** -48	20 **Ca** (156)	21 **Sc** –	22 **Ti** -38	23 **V** -90	24 **Cr** -64	25 **Mn**	26 **Fe** -56	27 **Co** -90	28 **Ni** -123	29 **Cu** 123	30 **Zn** –	31 **Ga** (-36)	32 **Ge** -116	33 **As** -77	34 **Se** -195	35 **Br** -325	36 **Kr** (39)
37 **Rb** -47	38 **Sr** (168)	39 **Y** –	40 **Zr** –	41 **Nb** –	42 **Mo** -96	43 **Tc**	44 **Ru** –	45 **Rh** –	46 **Pd** –	47 **Ag** -126	48 **Cd** –	49 **In** -34	50 **Sn** -121	51 **Sb** -101	52 **Te** -183	53 **I** -295	54 **Xe** (41)
55 **Cs** 46	56 **Ba** (52)	57 **La** –	72 **Hf** –	73 **Ta** -80	74 **W** -50	75 **Re** -14	76 **Os** –	77 **Ir** –	78 **Pt** -205	79 **Au** -223	80 **Hg** –	81 **Tl** 50	82 **Pb** -101	83 **Bi** -101	84 **Po** (-170)	85 **At** (-270)	86 **Rn** (41)
87 **Fr** (-44)	88 **Ra** –	89 **Ac**	104 **Unq**	105 **Unp**	106 **Unh**	107 **Uns**	108 **Uno**	109 **Une**									

ऋणायन बनाने के लिए: किसी भी परमाणु को ऋणायन में तब्दील करने के लिए ज़रूरी है कि उसमें इलेक्ट्रॉन को प्रवेश कराया जाए। इस रासायनिक क्रिया में भी ऊर्जा परिवर्तन होते हैं। कुछ में ऊर्जा निकलती है तो कुछ में बाहर से ऊर्जा दी जाती है। इस ऊर्जा को 'इलेक्ट्रॉन लगाव ऊर्जा' कहते हैं।

इस तालिका में हर तत्व के नीचे दी गई ऊर्जा उसकी 'इलेक्ट्रॉन लगाव ऊर्जा' है।

है। इस ऊर्जा को 'इलेक्ट्रॉन लगाव ऊर्जा' का नाम दिया गया है।

यहां हम रासायनिक क्रियाओं के महत्वपूर्ण पक्ष पर आ जाते हैं। किसी भी रासायनिक क्रिया का अध्ययन करते वक्त उसमें होने वाले ऊर्जा परिवर्तन का भी ध्यान रखना ज़रूरी होता है। **यदि किसी क्रिया के दौरान क्रिया करने वाले पदार्थ खूब सारी ऊर्जा सोखकर पदार्थ बनाते हैं, तो उस नए पदार्थ में ज़्यादा आंतरिक ऊर्जा संचित होगी** यह पदार्थ क्रिया करने वाले पदार्थों की तुलना में अस्थिर होगा।

मतलब यदि ऊर्जा की दृष्टि से देखें तो आयनिक बंधन उन्हीं तत्वों के बीच संभव है जिनकी आयनीकरण की ऊर्जा तथा इलेक्ट्रॉन लगाव की ऊर्जा अनुकूल हो। यानी कि 'आयनीकरण ऊर्जा' कम हो और 'इलेक्ट्रॉन लगाव ऊर्जा' भी कम हो। यहां पर शायद एक बार फिर से दोहरा लेना चाहिए कि आयनीकरण ऊर्जा सदैव धनात्मक होती है। जबकि 'इलेक्ट्रॉन लगाव ऊर्जा' धनात्मक भी हो सकती है और

आवर्त सारणी

1 H	2 He

I A (1)	II A (2)	III B (3)	IV B (4)	V B (5)	VI B (6)	VII B (7)	VIII B (8)	(9)	(10)	I B (11)	II B (12)	III A (13)	IV A (14)	V A (15)	VI A (16)	VII A (17)	VIII A (18)
																	2 He
3 Li	4 Be											5 B	6 C	7 N	8 O	9 F	10 Ne
11 Na	12 Mg											13 Al	14 Si	15 P	16 S	17 Cl	18 Ar
19 K	20 Ca	21 Sc	22 Ti	23 V	24 Cr	25 Mn	26 Fe	27 Co	28 Ni	29 Cu	30 Zn	31 Ga	32 Ge	33 As	34 Se	35 Br	36 Kr
37 Rb	38 Sr	39 Y	40 Zr	41 Nb	42 Mo	43 Tc	44 Ru	45 Rh	46 Pd	47 Ag	48 Cd	49 In	50 Sn	51 Sb	52 Te	53 I	54 Xe
55 Cs	56 Ba	57 La	72 Hf	73 Ta	74 W	75 Re	76 Os	77 Ir	78 Pt	79 Au	80 Hg	81 Tl	82 Pb	83 Bi	84 Po	85 At	86 Rn
87 Fr	88 Ra	89 Ac	104 Rf (Unq)	105 Ha (Unp)	106 Unh	107 Uns	108 Uno	109 Une									

Lanthanide series	58 Ce	59 Pr	60 Nd	61 Pm	62 Sm	63 Eu	64 Gd	65 Tb	66 Dy	67 Ho	68 Er	69 Tm	70 Yb	71 Lu
Actinide series	90 Th	91 Pa	92 U	93 Np	94 Pu	95 Am	96 Cm	97 Bk	98 Cf	99 Es	100 Fm	101 Md	102 No	103 Lr

ऋणात्मक* भी। 'आयनीकरण ऊर्जा' का मान या 'इलेक्ट्रॉन लगाव ऊर्जा' का मान एक सीमा में हो तभी आयनिक बंधन बन सकता है।

यह स्थिति हमें आवर्त सारणी के समूह IA (1), IIA (2) और IIIA (3) के कुछ तत्वों में या दूसरी ओर समूह VIIA (17), VI A (16) के तत्वों और नाइट्रोजन में ही प्राप्त होती है। आयनिक बंधन मूलत: इन्हीं के बीच बनते हैं। सिर्फ हैलोजन (क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन, फ्लोरीन) ही वह समूह है जिसमें 'इलेक्ट्रॉन लगाव ऊर्जा' काफी ऋणात्मक होती है।

परन्तु अभी भी एक प्रमुख सवाल रह जाता है। आयनिक बंधन बनने की प्रक्रिया का पहला कदम है आयनों का बनना। हमने देखा कि तत्व के परमाणु से आयन बनने में ऊर्जा परिवर्तन होता है। आयन बनने की प्रक्रिया के दौरान आमतौर पर आयनों की कुल ऊर्जा, शुरुआती तत्वों से थोड़ी ज़्यादा ही होती है; जैसा कि आगे दिए गए सोडियम क्लोराइड के उदाहरण में स्पष्ट होता है।

ऊपर ज़िक्र किए गए कुछ तत्वों में चाहे स्थिति बहुत प्रतिकूल नहीं है मगर फिर भी सवाल है कि इतनी ऊर्जा खर्च करके आयन बनें ही क्यों? इस सवाल का जवाब देने के लिए 'अक्रिय (नोबल) गैसों की स्थिर संरचना' का सिद्धांत सामने आया।

स्थिरता की कोशिश में

यदि हम केन्द्रक के इर्द-गिर्द इलेक्ट्रॉनों के वितरण को थोड़ा और बारीकी से देखें तो पाते हैं कि ये इलेक्ट्रॉन अलग-अलग स्तरों पर, केन्द्रक से अलग-अलग दूरी पर चक्कर काटते हैं। इनमें से जो सबसे बाहरी स्तर होता है वह किसी भी तत्व के रासायनिक गुणों की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। नोबल गैसों (यानी हीलियम, नियॉन, आर्गन, क्रिप्टॉन, ज़ेनॉन, रेडॉन) में हीलियम को छोड़कर बाकी सभी गैसों के बाह्यतम स्तर पर आठ इलेक्ट्रॉन होते हैं। लुईस ने सिद्धांत दिया कि इन गैसों की तुलनात्मक अक्रियता का राज़ इसी अष्टक में है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि शेष तत्व भी आपस में बन्धन बनाकर यही 'अक्रिय' संरचना प्राप्त कर लेते हैं। यह 'अष्टक' अत्यंत स्थिर संरचना है।

तो इस सिद्धांत को लागू करके

* किसी क्रिया के दौरान पदार्थ का ऊर्जा का परिमाण ऋणात्मक है तो उस क्रिया के दौरान पदार्थ ने ऊर्जा छोड़ी है, अर्थात क्रिया के बाद उस पदार्थ की कुल ऊर्जा कम हुई है। इसी तरह धनात्मक ऊर्जा का अर्थ है कि पदार्थ ने ऊर्जा अवशोषित की है यानी कि क्रिया के पूर्ण होने पर पदार्थ की कुल ऊर्जा में वृद्धि हुई है।

यह देखा जा सकता है कि समूह IA की धातुएं जब एक इलेक्ट्रॉन छोड़ती हैं तो उनकी शेष बची संरचना 'अक्रिय अष्टक' नुमा हो जाती है। समूह IIA व IIIA की धातुओं को यही स्थिति प्राप्त करने के लिए क्रमश: दो व तीन इलेक्ट्रॉन से निजात पानी होगी।

इसी प्रकार समूह VIA व VIIA की धातुएं क्रमश: दो व तीन इलेक्ट्रॉन हासिल करें तो वे 'अष्टक अवस्था' प्राप्त कर लेती हैं। यह उन्हें एक स्थिरता प्रदान करता है।

संरचना और ऊर्जा

परन्तु यहां भी एक दिक्कत है। यह तो सही है कि अष्टक की स्थिरता की वजह से हैलोजन तत्वों के आयन उनके परमाणुओं की तुलना में ज़्यादा स्थिर होते हैं। उनके आयनों की आन्तरिक ऊर्जा परमाणुओं से करीब 300 किलो जूल* प्रति मोल कम है। मगर ऑक्सीजन आयन (O^{2-}), सल्फर (S^{2-}), नाइट्रोजन (N^{3-}), सोडियम (Na^{+}), मैग्नीशियम (Mg^{2+}) तथा कैल्शियम (Ca^{2+}) आयन अपने तत्व के परमाणुओं के मुकाबले 250 से 2200 किलो जूल प्रति मोल ज़्यादा ऊर्जा रखते हैं। इनमें भी नोबल गैस संरचना तो मौजूद है मगर ये स्वतंत्र परमाणुओं की तुलना में ज़्यादा ऊर्जा रखे हुए हैं।

मसलन यदि सोडियम व क्लोरीन से सोडियम क्लोराइड बनने का उदाहरण लें तो स्थिति कुछ इस तरह दर्शाई जा सकती है:

चरण 1.	$Na(s) \rightarrow Na(g)$	ऊर्जा शोषी	108 किलो जूल
चरण 2.	$Na(g) \rightarrow Na^{+} + e^{-}$	ऊर्जा शोषी	500 किलो जूल
चरण 3.	$1/2Cl_2 \rightarrow Cl$	ऊर्जा शोषी	121 किलो जूल
चरण 4	$Cl + e^{-} \rightarrow Cl^{-}$	ऊर्जा निकली	−364 किलो जूल
			365 किलो जूल

मतलब सोडियम व क्लोरीन को आयन के रूप में तैयार करने तक कुल 365 किलो जूल ऊर्जा सोखी जा चुकी है। यानी ये दोनों मिलकर सोडियम व क्लोरीन के मुकाबले ज़्यादा अस्थिर हैं। परन्तु फिर भी सोडियम और क्लोरीन के परमाणुओं से सोडियम क्लोराइड कैसे बन जाता है?

---

* जूल — जेम्स प्रेसकॉट जूल के नाम पर रखी गई ऊर्जा की इकाई। किलोजूल अर्थात 1000 जूल।

कैसे बनता है सोडियम क्लोराइड (NaCl)
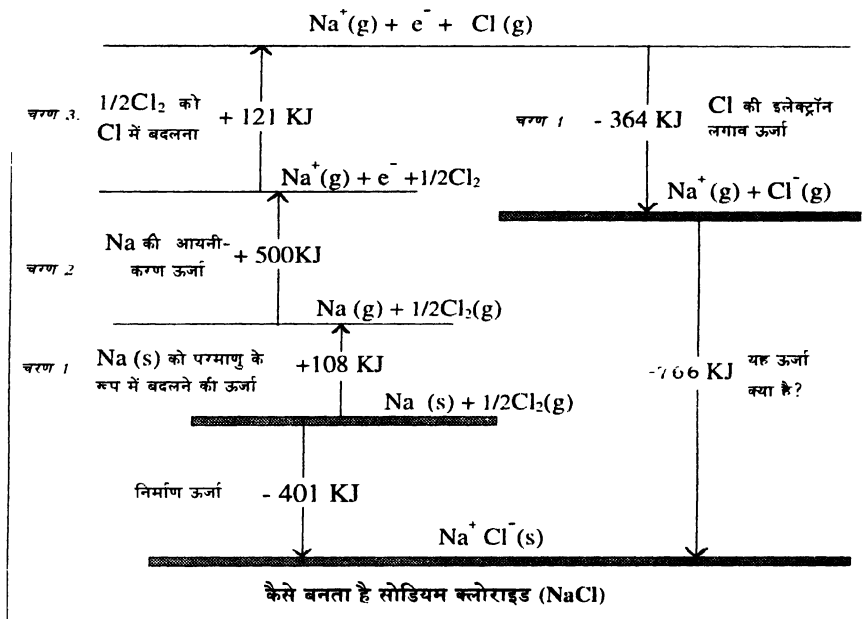
उपरोक्त चित्र से स्पष्ट है कि आयन बनने तक तो $Na^+(g)$ व $Cl^-(g)$, ठोस सोडियम व गैसीय क्लोरीन के मुकाबले ज़्यादा अस्थिर हैं। यहां आकर वह क्रिया होती है जिसके ज़रिए Na^+ व Cl^- आकर्षित होकर पास-पास आते हैं तथा ठोस रूप ले लेते हैं। ठोस रूप में ये आयन मिलकर एक जाल (लैटिस) का रूप ले लेते हैं। लैटिस रचना की इस क्रिया में काफी सारी ऊर्जा निकलती है और सोडियम क्लोराइड की आंतरिक ऊर्जा इतनी कम हो जाती है कि वह स्थिरता प्राप्त कर लेता है। मसलन Na^+ व Cl^- से NaCl (ठोस) बनने की लैटिस ऊर्जा (–)766 किलो जूल है। दरअसल आयनिक बंधनों से बने पदार्थों के गुण काफी कुछ इस लैटिस ऊर्जा पर निर्भर होते हैं।

यौगिक	सैद्धांतिक लैटिस ऊर्जा (किलो जूल/मोल)	प्रयोगात्मक लैटिस ऊर्जा (किलो जूल/मोल)
NaCl	-766	-766
NaBr	-731	-742
NaI	-686	-699
AgCl	-768	-890
AgBr	-759	-877
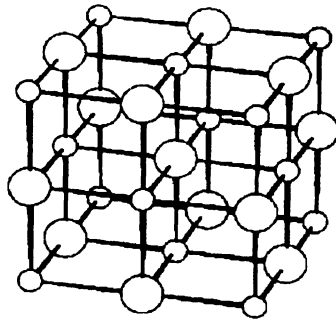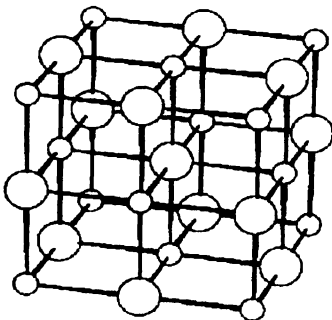
सोडियम क्लोराइड (NaCl) की लैटिस संरचना

उदाहरण के लिए आमतौर पर ठोस आयनिक पदार्थों का गलनांक व क्वथनांक बहुत ज़्यादा होता है। कारण यह है कि इनकी लैटिसनुमा संरचना को तोड़ने में बहुत ऊर्जा (उष्मा) लगानी पड़ती है। आयनों के बीच ठोस अवस्था में जो परस्पर आकर्षण होता है वह काफी शक्तिशाली होता है। इसी आकर्षण के कारण ये पदार्थ काफी कठोर भी होते हैं, मगर लैटिस की संरचना के कारण ये पदार्थ भंगुर भी होते हैं। इनके क्रिस्टल पर किसी खास तल पर हल्का-सा दबाव डालने से ही ये टूट जाएंगे। इसके मूल में भी एक व्यवस्थित लैटिस संरचना ही है। उदाहरण के लिए सोडियम क्लोराइड (ठोस अवस्था) की लैटिस संरचना चित्र में दिखाई गई है।

आयनिक पदार्थ ठोस अवस्था में विद्युत के कुचालक हैं जबकि तरल (पिघली हुई) अवस्था में सुचालक होते हैं। कारण यही है कि ठोस अवस्था में आयन विद्युत का संवहन करने को मुक्त नहीं होते, लैटिस में जकड़े रहते हैं। जबकि तरल अथवा घुलित अवस्था में ये आयन एक-दूसरे से स्वतंत्र होते हैं।

एक बार जब आयनिक पदार्थों में बंधन के गुणधर्म को समझ लें, तो कई सारी बातें एक पैटर्न में फिट होने लगती हैं। जैसे सोडियम से Na^{+} आयन ही क्यों बनता है, Na^{2+} क्यों नहीं? दूसरी ओर कैल्शियम हर बार Ca^{2+} आयन ही क्यों बनाता है? या O_2^{+} आयन बन सकता है क्या?

इनमें से कुछ सवालों पर हम आगे गौर करेंगे। और आयनिक बंधन के अलावा और भी कई तरीके हैं तत्वों के मेल मिलाप के, जैसे सहबंध। फिलहाल उसे मुल्तवी रखते हैं।

सुशील जोशी – पर्यावरण एवं विज्ञान लेखन में सक्रिय। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।
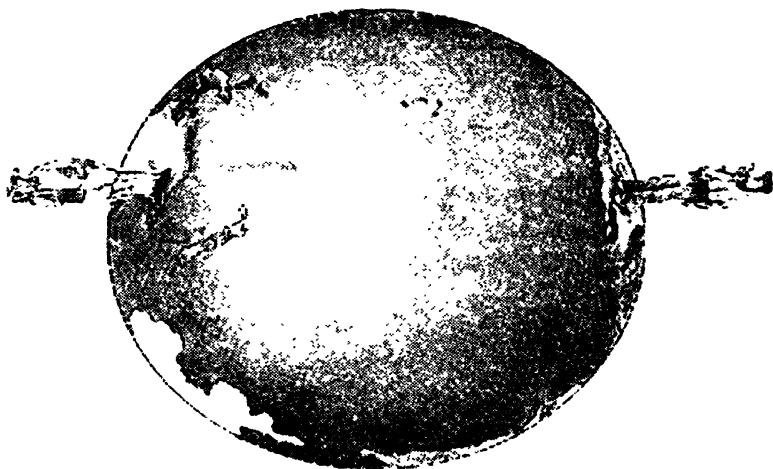
गति सापेक्ष है

सवाल: लोग कहते हैं कि धरती घूमती है, लेकिन हमें महसूस क्यों नहीं होता कि वह घूमती है?

जवाब: जिस तरह लोग कहते हैं कि अपनी धुरी के इर्द-गिर्द पृथ्वी घूमती है उसी तरह लोग यह भी कहते हैं कि पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगा रही है, और हर सेकेण्ड में अंतरिक्ष में करीब एक लाख फीट आगे बढ़ती है यानी करीब 31 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड।

तुम्हें शायद मालूम होगा कि होशंगाबाद से इटारसी बीस किलोमीटर दूर है। बस से जाओ तो आधा घंटा लगता है। और बस में बैठे हुए तुम महसूस करते हो न कि अब पहाड़िया निकला, अब पवारखेड़ा आया, अब तवाबांध की नहर निकली और इटारसी आने

वाला है। लेकिन यहां तो तूफानी गति की बात हो रही है — 31 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड। लोग कहेंगे कि वाह! इतनी तेज़ उड़ रहे हैं और मालूम ही नहीं पड़ रहा, और जब मालूम ही नहीं पड़ रहा तो कैसे मानें?

वैसे देखें तो कुल जवाब इसी 'मालूम कैसे पड़ता है' यानी कि 'गति का अहसास क्या है' में छुपा हुआ है।

मेरी मूर्खता का किस्सा

अपनी मूर्खता का एक किस्सा सुनाता हूं। हुआ यह कि रेलगाड़ी में बैठकर होशंगाबाद से भोपाल जा रहा था, तुम्हारा सवाल दिमाग में था ही। यूं ही एक आदमी से पूछ बैठा — "भाईसाहब गाड़ी चल रही है कि रुकी हुई है?"

बोला अजीब बेवकूफ आदमी हो, दिख नहीं रहा कि गाड़ी चल रही है। मैंने फिर पूछा आप बताओ तो ज़रा कि कैसे पता चल रहा है कि गाड़ी चल रही है। जवाब आया कि पेड़ पीछे जा रहे हैं, पहाड़ पीछे जा रहे हैं; ये देखो हमने गडरिया नाले पर बना पुल पार किया, वो देखो भैंस चराने वाला आदमी हमारे डिब्बे के पीछे छूट गया और तुम मूर्ख पूछ रहे हो कि गाड़ी चल रही है क्या?

मैंने कहा कि ये सब तो ठीक है लेकिन मान लो — अगर ये पेड़, ज़मीन, पुल होते ही नहीं या इनको भूल जाओ तो डिब्बे के अंदर बैठे कैसे पता चलेगा कि गाड़ी चल रही है। खैर, उसने मुझे सिरफिरा कहकर टाल दिया।

गेंद कहां गिरेगी

अगर हाथ में गेंद हो तो उसे हवा में उछालने और ज़मीन पर टिप्पा दिलाने का मज़ा तो खूब लिया होगा, है न! वैसे ये भी गौर किया होगा कि अगर हम गेंद ठीक ऊपर की तरफ उछालें और वहीं खड़े रहें तो गेंद वापस लौटकर हाथ में ही आती है। लेकिन गेंद उछालने के बाद हम उस बिन्दु से थोड़ा आगे या पीछे की ओर बढ़ जाएं तो क्या गेंद अब भी हमारे पास आएगी? नहीं आएगी। गेंद तो उस पहले वाले बिन्दु के पास ही गिरेगी।

लेकिन यहां क्यों नहीं हुआ ऐसा

जब गाड़ी स्टेशन पर खड़ी थी तो सीट पर बैठे हुए एक आदमी ने गेंद हवा में उछाली। गेंद वापस लौटकर उसके हाथ में गिरी। उसने कई बार इसे दोहराकर देखा।

लेकिन अब तो गाड़ी चल रही है — फिर से उसने सीट पर बैठे हुए गेंद को हवा में उछाला। इस

स्थिति में भी गेंद उसके हाथ में ही आकर गिरती है।

अब सवाल उठता है कि ज़मीन पर हवा में गेंद उछालने के बाद जब हम उस बिन्दु से आगे या पीछे खिसके तब तो गेंद पहले वाले बिन्दु पर ही गिरी, हमारे हाथ में नहीं आई। परन्तु डिब्बे के अंदर जब गेंद हवा में उछाली और वह वापस लौटकर आई, इस बीच गाड़ी कुछ आगे बढ़ी। तो गेंद को तो उस पहले वाले बिन्दु पर ही गिरना चाहिए था, हमारे हाथ में वापस नहीं आना चाहिए था। लेकिन ऐसा क्यों नहीं हुआ?

बात यह है कि डिब्बा जब गतिशील है तो उसके अंदर की हवा भी उसी गति से चल रही है। इसलिए जब गेंद हवा में उछाली तो वह भी उसी गति करती हवा में है जो डिब्बे के साथ है; और आप जिस तरह डिब्बे में बैठे-बैठे आगे बढ़ रहे हैं, हवा भी आगे बढ़ रही है। इसलिए जब भी गेंद नीचे गिरेगी, आप ही के पास गिरेगी।

अब फिर से उसी सवाल को देखते हैं कि अगर बाहर से पीछे जाते हुए पेड़, पहाड़ आदि को भूल जाओ तो अंदर बैठे-बैठे कैसे बताओगे कि डिब्बा गति कर रहा है। प्रयोग का परिणाम तो रुकी हुई गाड़ी में भी वैसा ही था जैसा चलती हुई गाड़ी में था – यानी दोनो बार गेंद हाथ में ही गिरी।

चलती गाड़ी में भी सीट वहीं है जहां रुकी हुई गाड़ी में थी। चलते डिब्बे में लोग जिस तरह इधर-उधर आ-जा रहे हैं वैसा ही वे रुके हुए डिब्बे में भी कर रहे थे। अगर खिड़कियां बंद कर दी जाएं और गाड़ी हिलने से लगने वाले दचकों को थोड़ी देर के लिए भूल जाओ तो एक ही रफ्तार से चल रही गाड़ी में बैठे हुए यह कैसे बताओगे कि डिब्बा चल रहा है।

तकरीबन असंभव बात है! **डिब्बा चल रहा है इसे बताने के लिए** बाहर देखना ही पड़ेगा, खेत पीछे जा रहे हैं, पेड़ पीछे जा रहे हैं, पहाड़ पीछे जा रहे हैं – यानी डिब्बा चल रहा है।

पूरी पृथ्वी एक डिब्बा है

अब कल्पना करो कि पूरी पृथ्वी एक डिब्बा है, रेल का डिब्बा; जो 31 किलोमीटर प्रति सेकेण्ड की रफ्तार से आगे बढ़ रहा है।

चाहे होशंगाबाद में गेंद उछालो या इटारसी में, गिरती तो वह हाथ में ही है। मकान भी वहीं हैं जहां बने थे। पेड़ भी वहीं हैं। हवा भी पृथ्वी के साथ उसी की गति से चल

रही है। तो फिर कैसे महसूस करें कि धरती तूफानी गति से आगे बढ़ रही है या घूम रही है।

डिब्बे की तरह असंभव है बिना बाहर देखे – यानी अंतरिक्ष में कुछ पीछे छूटता दिखाई दे तभी धरती-नुमा डिब्बे में बैठे हम महसूस कर सकते हैं कि धरती चल रही है। इसी तरह पृथ्वी की घूर्णन गति को महसूस करने के लिए भी यह बात सही है।

तो क्या अगर कोई वस्तु अंतरिक्ष में होती तो हम उसके सापेक्ष कह पाते कि हम आगे बढ़ रहे हैं या पीछे जा रहे हैं?

चलो, ज़रा धरती के बाहर आकाश की तरफ देखते हैं। क्या दिखता है? दिन के समय पूर्व से उगकर पश्चिम में डूबता हुआ सूर्य और इसी तरह रात को आकाश में विचरते हुए तारे।

गति का भ्रम

तो अब क्या मानें – हमारी धरती घूम रही है या फिर ये सब चांद-सितारे और सूर्य। दरअसल यहां थोड़ी-सी भ्रम की स्थिति है।

शायद तुम्हें भी कभी यह अनुभव हुआ होगा कि तुम्हारी रेलगाड़ी के बगल में दूसरी रेलगाड़ी खड़ी हो और अचानक कोई भी एक गाड़ी धीरे से चलने लगे। कुछ-कुछ भ्रम होता है न कि हम चल रहे हैं या फिर दूसरी गाड़ी चल रही है!

आप प्लेटफॉर्म की तरफ देखकर यह सवाल सुलझा लेते हैं कि कौन-सी गाड़ी चलने लगी है। परन्तु धरती और आसमां के बीच टंगे इस सवाल को सुलझाना आसान नही था।

दरअसल आकाश की ओर देखते हुए इंसान का यह मान लेना स्वाभाविक ही था कि धरती स्थिर है और सूर्य-चांद-तारे इसके इर्द-गिर्द घूम रहे हैं। परन्तु बात यहां अटकी नहीं।

जैसे-जैसे लोगों ने इन आकाशीय पिंडों को गौर से देखना और अपने अवलोकनों को लिखकर रखना शुरू किया, उन्हें समझ में आया कि जैसी शुरू में मान्यता थी कि ये सब एक ही रफ्तार से पृथ्वी के इर्द-गिर्द एक गोले में घूमते हैं, वह सही नहीं है क्योंकि:

1. रोज़ रात को एक ही समय पर तारों की स्थिति बदली हुई मिलती थी।
2. सूर्य का पथ भी साल भर आकाश में एक-सा नहीं रहता था – कभी वह एकदम सिर के ऊपर से गुज़रता दिखाई देता और कभी आकाश में एकदम नीचा होता।

सूर्य और तारों की स्थितियों में तो फिर भी एक क्रम दिखाई देता था परन्तु आकाश में विचर रहे ग्रहों का ध्यान से अवलोकन करने पर और भी विचित्र बातें दिखाई दीं — कभी वे तेज़ी से आगे को दौड़ते नज़र आते, तो कभी उनकी रफ्तार एकदम धीमी हो जाती और कभी तो ऐसे लगता मानों वे उल्टी दिशा में चलने लगे हों।

ऐसे सब अवलोकनों के कारण यह विचार तो बहुत पहले त्याग दिया गया कि ये सब पृथ्वी के इर्द-गिर्द गोल घेरे में एक ही रफ्तार से घूम रहे हैं। पृथ्वी के इर्द-गिर्द उनकी गति को दर्शाने के विभिन्न मॉडल किए जाने लगे जो इन की कसौटी पर खरे उतरें। इनमें सबसे विख्यात कोशिशें थीं वृत और उपवृत बनाकर इन अवलोकनों को समझने का प्रयास। परन्तु जैसे-जैसे इन आकाशीय पिंडों की स्थितियों के अवलोकन ज़्यादा सटीक होते गए, वैसे-वैसे पृथ्वी के इर्द-गिर्द उनकी गति को समझाने के मॉडल जटिलतम होते चले गए।

ऐसे समय में सोलहवीं सदी की शुरुआत में एक वैज्ञानिक निकोलस कोपरनिकस ने एक नया ही प्रस्ताव सबके सामने रखा कि मानो पृथ्वी स्थिर न होकर सूर्य के चारों तरफ चक्कर लगा रही है और साथ ही अपनी धुरी के इर्द-गिर्द भी घूम रही है; तो क्या होगा?

इस एक बदलाव से अचानक सब कुछ एकदम आसान मॉडल में फिट बैठने लगा। उन सब जटिल उपवृतों आदि के बजाए अब ग्रहों के उस समय उपलब्ध लगभग सब अवलोकनों को समझाया जा सकता था — अगर यह मान लिया जाए कि ये सब ग्रह भी सूर्य के इर्द-गिर्द चक्कर लगा रहे हैं।

आज शायद किसी के कहने पर यह मान लेना आसान है कि धरती घूम रही है। परन्तु आज से चार-पांच सौ साल पहले सशक्त तर्क होने के बावजूद लोगों को बहुत समय लगा इस बात को मनवाने में — डेढ़ सौ साल से भी ज़्यादा।

□ □ □

इस सवाल को पूछा था इंद्रा पंजवानी, हरिओम जनरल स्टोर्स, मीठी गली, पिपरिया, ज़िला होशंगाबाद ने।

इस बार 'सवालीराम ने पूछा सवाल' पृष्ठ नंबर 84 पर।

जंतुओं का प्रवास

हम मुसाफिर दुनिया के

अरविंद गुप्ते
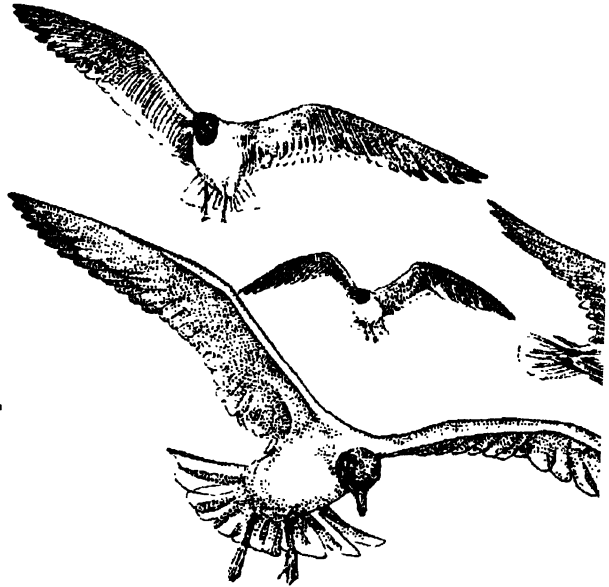
लम्बी यात्राओं के दौरान ये सही रास्ता कैसे ढूंढ पाते हैं; और वह भी इतने अचूक ढंग से कि साल-दर-साल उसी स्थान पर पहुंचते हैं? इस बार हम इस सवाल की जांच-पड़ताल करते हुए जंतुओं के प्रवास से जुड़े कुछ प्रयोगों की चर्चा कर रहे हैं।

प्रवासी जंतुओं के प्रवास के ओर-छोर का पता लगा लेने भर से वैज्ञानिकों का काम समाप्त नहीं हो जाता। उनके सामने कई प्रश्न अभी भी खड़े थे जैसे:

– इतनी तकलीफ, इतने खतरे उठाकर इतनी लम्बी यात्राएं करने से इन जंतुओं को आखिर क्या लाभ होता है?
– प्रवास की प्रथा का प्रचलन कुछ ही जंतुओं में क्यों हुआ और कैसे हुआ?
– इतनी लम्बी यात्राओं के दौरान ये सही रास्ता कैसे ढूंढ पाते हैं; और
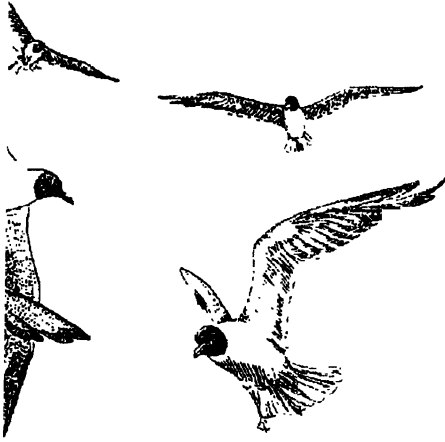
वह भी इतने अचूक ढंग से कि साल-दर-साल उसी स्थान पर पहुंचते हैं?

तो आइए, पहले लाभ की चर्चा करें। यह तो स्पष्ट है कि प्रवासी जंतुओं को स्थान परिवर्तन की भारी कीमत चुकानी पड़ती है। हर साल इतनी लम्बी-लम्बी यात्राएं करने में, चाहे उड़कर की जाए या तैरकर या ज़मीन पर चलकर, बहुत अधिक ऊर्जा की ज़रूरत होती है। अधिकतर जंतु यात्रा से पहले कई महीनों तक पर्याप्त भोजन लेकर इस ऊर्जा का संचय करते हैं; जैसा कि हम ईल और सॅमन मछलियों के बारे में देख चुके हैं। वर्षों तक भोजन ले कर ऊर्जा इकट्ठी करने के बावजूद प्रवास के दौरान वे इतनी थक जाती हैं कि आखिरी पड़ाव पर उनकी मृत्यु निश्चित होती है। प्रवास के दौरान प्रवासी जंतुओं पर कई खतरे भी मंडराते हैं। कई मांसाहारी जंतु तो थके हुए प्रवासी जंतुओं पर ही भोजन के लिए निर्भर रहते हैं।

भूमध्य सागर के दक्षिणी किनारे पर पाए जाने वाले एक प्रजाति के बाज़ पक्षी का मुख्य भोजन थके-हारे प्रवासी पक्षी ही हैं। यहां तक कि यह बाज़ प्रजनन उन्हीं दिनों में करता है जब छोटे प्रवासी पक्षी उस इलाके में पहुंचने लगते हैं ताकि इन्हें वह अपने बच्चों को खिला सके।

बीमारी या थकान के कारण झुंड से पिछड़ने वाले प्रवासी हिरणों की ताक में भेड़िए, जंगली कुत्ते और अन्य मांसाहारी जंतु हमेशा रहते हैं। प्रवास के दौरान आंधी-तूफान में फंस जाने पर भी बड़ी संख्या में प्रवासी जंतु मारे जाते हैं।

प्रवासी जंतुओं में विकास के दौरान ऐसी क्षमता विकसित हो गई है जो प्रवास में सही रास्ता खोजने में उनकी मदद करती है। कौआ, गौरैया, गाय आदि अप्रवासी जंतुओं में यह क्षमता होती ही नहीं है या बहुत ही सीमित होती है। समुद्र या हिमालय की चोटियों पर से रास्ता खोज पाना एक चमत्कारी

क्षमता है। यहां कोई पहचान के निशान तो होते नहीं हैं। इन स्थानों पर जहाज़ भी कई बार भटक जाते हैं।

भोजन और जीवन का सवाल

इतनी भारी कीमत (अपनी जान तक की) चुकाकर जंतुओं के प्रवास करने के दो कारण हैं: पोषण और प्रजनन। ठंडे प्रदेशों में जाड़े के मौसम में कड़ाके की ठंड या बर्फ पड़ने से भोजन की एकदम कमी हो जाती है। इस मौसम में पौधे न उगने से छोटे जंतु मर जाते हैं या फिर शीतनिद्रा के लिए बिलों में घुस जाते हैं। फलस्वरूप शाकाहारी और मांसाहारी दोनों प्रकार के जंतुओं के लिए जीवन-यापन कठिन हो जाता है।

प्रजनन से भी कुछ ऐसी ही बातें जुड़ी हुई हैं। कुछ जंतु ऐसे स्थान ढूंढते हैं जहां उनके बच्चों को पर्याप्त भोजन मिल सके, तो कुछ अन्य जंतुओं को रहने के स्थान पर पर्याप्त भोजन तो मिल जाता है किन्तु उनके अंडे और बच्चे वहां सुरक्षित नहीं होते। उन्हें प्रजनन के लिए सुरक्षित स्थान पाने के लिए प्रवास करना पड़ता है। अधिकांश प्रवासी पक्षियों को प्रवास के द्वारा पोषण और प्रजनन दोनों के लाभ मिल जाते हैं। उन्हें अपनी यात्रा के दोनों छोरों पर अच्छी परिस्थितियां मिल जाती हैं। ठंड के मौसम में वे जिन प्रदेशों में आते हैं वे या तो मैदानी इलाके होते हैं या फिर भूमध्यरेखा के काफी करीब होते हैं। यहां पक्षियों का बचाव उस कड़ाके की ठंड और बर्फ से हो जाता है जिनका सामना उन्हें ऊपरी अक्षांशों पर करना पड़ता। इन प्रदेशों में इस मौसम में भोजन भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। गर्मी के दिनों में वे जब ऊपरी अक्षांशों की ओर लौटते हैं तब उन्हें फिर अच्छा मौसम और पर्याप्त भोजन उपलब्ध हो जाता है। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर वे इन प्रदेशों में ही प्रजनन करते हैं। साथ ही वे मैदानी प्रदेशों में पड़ने वाली गर्मी और पानी व भोजन की कमी से भी बच जाते हैं।

समुद्र में रहने वाले विशालकाय स्तनधारी व्हेल भी प्रवास के द्वारा दोनों प्रकार की परिस्थितियों का लाभ उठाते हैं। ध्रुवीय प्रदेशों में गर्मी के मौसम में इनके भोजन के रूप में बहुत मात्रा में सूक्ष्मजीव उपलब्ध होते हैं। इन्हें खाकर व्हेल अपने शरीर में पर्याप्त चर्बी इकट्ठी कर लेती है। ध्रुवीय प्रदेशों में जाड़े का मौसम शुरू होने के पहले ये शीतोष्ण और उष्ण कटिबंधों के समुद्रों की ओर चल देते हैं। जहां का मौसम इनके शिशुओं के लिए सुविधाजनक होता है।

किन्तु पेंगुइन पक्षी की स्थिति कुछ भिन्न होती है। इनकी मादाएं समुद्र के किनारे पर बिल्कुल खुले स्थानों में अंडे देती हैं। ज़ाहिर है कि इसके लिए

उन्हें ऐसे निर्जन प्रदेशों की तलाश होती है जहां उनके अंडे व बच्चे सुरक्षित रह सकें। अत: वे चुनती हैं अंटार्कटिक क्षेत्र के बिल्कुल निर्जन समुद्र तट जो उनके सामान्य निवास स्थान और भोजन प्राप्त करने के स्थान से बहुत दूर होते हैं। ईल, सॅमन मछलियां, समुद्री कछुए और सामान्य सील भी ऐसे जंतुओं के उदाहरण हैं जो भोजन प्राप्त करने के सामान्य स्थानों को छोड़कर प्रजनन के लिए अधिक सुरक्षित स्थान खोजते हैं।

अधिकांश प्रवामी जंतु झुंडों में प्रवास करते हैं, ठीक उसी तरह जैसे पुराने ज़माने में लोग काफिले बना कर चला करते थे। एक झुंड में जितने अधिक सदस्य होते हैं हमला होने पर मौत के खतरे की संभावना उतनी ही बराबर बंट जाती है।

भारत में उत्तर से आने वाले कुछ पक्षी प्रवास के दौरान अधिक ऊंचाई पर उड़ने से बचने के लिए नदियों की घाटियों और दर्रों में से होकर आते हैं, किन्तु इसमें इन्हें अधिक लंबा रास्ता तय करना पड़ता है।

कुछ अन्य पक्षी शॉर्टकट लेते हुए हिमालय की ऊंची चोटियों पर से उड़कर आते हैं। गोल्डन प्लवर जैसे समुद्र पर बिना रुके लगातार उड़ने वाले पक्षियों का भी यही उद्देश्य होता

है कि कम-से-कम दूरी तय करनी पड़े।

. . . लंबी यात्राएं?

लंबी यात्राओं को लेकर यह प्रश्न अभी भी बरकरार है कि आखिर इतनी लंबी यात्राओं का विकास कैसे हुआ? इसके बारे में एक सोच तो यह है कि ये जंतु प्रारंभ में बेहतर स्थानों की तलाश में छोटी-छोटी दूरियों का प्रवास करने लगे (जैसा कि कुछ जंतु अभी भी करते हैं) और लाखों वर्षों के विकास (Evolution) के दौरान इनके प्रवास का दायरा बढ़ता गया। इस तारतम्य में मोनार्क तितलियों का उदाहरण महत्वपूर्ण है। हम देख चुके हैं कि ये तितलियां संयुक्त राज्य अमेरिका से उड़कर मेक्सिको पहुंचती हैं। किन्तु रोचक बात यह है कि इस प्रजाति की सभी तितलियां प्रवास नहीं करतीं। ये तितलियां मिल्कवीड नामक पौधे पर ही अंडे देती हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के जिन भागों में ये पौधे उपलब्ध होते हैं उन भागों में रहने वाली मोनार्क तितलियां प्रवास नहीं करतीं। फिर सवाल यह उठता है कि जहां मिल्कवीड पौधे नहीं होते वहां की तितलियां सैकड़ों किलोमीटर दूर मेक्सिको जाने के बजाए आसपास के उन क्षेत्रों में क्यों नहीं चली जाती जहां ये पौधे उपलब्ध हैं? इसका संभावित उत्तर शायद हमें प्रवासी मोनार्क तितलियों के विकास (Evolution) के इतिहास में खोजना होगा कि वे ऐसा क्यों करती हैं।

तरह-तरह की क्षमताएं

जंतुओं के प्रवास से जुड़ा हुआ तीसरा प्रश्न यह है कि इन लंबी यात्राओं के दौरान ये सही रास्ता कैसे ढूंढ पाते हैं? यह प्रश्न जंतु-जगत की सबसे अद्‌भुत पहेलियों में से एक है। लगातार प्रयासों के बावजूद वैज्ञानिक इस पहेली को पूरी तरह से सुलझा नहीं पाए हैं। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि इस संबंध में किए गए वैज्ञानिक प्रयोग मानव जाति के धैर्य और कल्पनाशीलता की मिसाल हैं। इन प्रयोगों से मुख्य निष्कर्ष यही निकला है कि अलग-अलग प्रजातियों के जंतु दिक्‌चालन (रास्ता खोजना) के लिए अलग-अलग तरीके अपनाते हैं।

शुरूआत सॅमन मछली से करते हैं। हम देख चुके हैं कि नदियों में जन्म लेने के बाद सॅमन के बच्चे समुद्र में जाते हैं और समुद्र में कई वर्ष बिताने के बाद फिर उसी नदी में, उसी स्थान पर प्रजनन करने के लिए आते हैं जहां उनका जन्म हुआ था।

कैनेडा के वैज्ञानिकों ने एक नदी के उद्‌गम के पास जन्मी लगभग पांच लाख सॅमन मछलियों पर पहचान के निशान लगाए। कई वर्षों बाद इनमें से
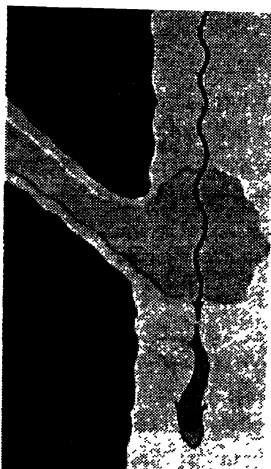
सॅमन की गंध क्षमता: सॅमन मछली का प्रवास काफी समय तक वैज्ञानिकों के लिए एक गुत्थी बना हुआ था कि ये सही रास्ता कैसे खोज लेती हैं? सॅमन पर किए गए प्रयोगों में से एक प्रयोग डी. हशलर ने किया और पाया कि सॅमन में अत्यंत संवेदनशील रासायनिक रिसेप्टर होते हैं जो अलग-अलग जलधाराओं में गंध के आधार पर अंतर कर सकते हैं।

सॅमन मछलियों पर किया गया प्रयोग कुछ इस तरह था – एक तालाब में करीब 26,000 मछलियां रखी गईं। इस पानी में एक हल्की गंधवाला रसायन मॉरफीलिन मिलाया गया। इस तालाब में तीस दिन तक रखने के बाद बाद इन मछलियों को मिशिगन झील में छोड़ दिया गया। कुछ महीनों बाद झील की मछलियां प्रजनन के लिए सफर पर निकल पड़ीं। प्रयोगकर्त्ताओं ने अल्ट्रासोनिक तरंगों की मदद से इन मछलियों पर नज़र रखी और एक नदी की जलधारा में मॉरफीलिन घोल दिया। सफर पर निकली मछलियों में से जो मॉरफीलिन की गंध से परिचित थीं वे उस जलधारा की ओर मुड़ गईं और बाकी मछलियां आगे के सफर पर रवाना हो गईं।

11,000 मछलियां प्रजनन के लिए इसी नदी में आईं, किन्तु निशान लगी हुई एक भी मछली अन्य किसी नदी में नहीं पाई गई।

इस आधार पर वैज्ञानिकों ने यह अनुमान लगाया कि संभवतः इन मछलियों के बच्चों के मस्तिष्क में उस नदी के पानी की गंध की ऐसी अमिट छाप बन जाती है कि वे उसे ज़िन्दगी भर नहीं भूलते और प्रजनन के समय इसी गंध को ढूंढती हुई ये मछलियां सही स्थान पर पहुंच जाती हैं।

वैज्ञानिकों ने यह भी पाया कि जिन मछलियों की गंध ढूंढने की शक्ति नष्ट कर दी गई वे बड़े होने पर सही स्थान पर नहीं पहुंच सकीं।

इसकी पुष्टि के लिए एक अन्य रोचक प्रयोग किया गया। सॅमन के

लगभग 26,000 बच्चों को ऐसे पानी से भरे तालाब में एक महीने तक रखा गया जिसमें बहुत हल्की गंध वाला एक रसायन मिलाया गया था। लगभग इतने ही बच्चों को, इतने ही समय के लिए ऐसे दूसरे तालाब में रखा गया जिसके पानी में यह रसायन नहीं मिलाया गया था। इसके बाद इन्हें मिशिगन नामक विशाल झील में छोड़ दिया गया। जब इन मछलियों के प्रजनन का समय आया तो झील में गिरने वाली कई नदियों में से एक के पानी में रसायन की बहुत थोड़ी मात्रा मिलाई गई। रसायन मिले पानी में पली अधिकांश मछलियां इस नदी में आ गई जबकि दूसरे समूह की इक्का-दुक्का मछली ही इस में पहुंची।

सूर्य और तारे भी दिशासूचक

पक्षियों का दिक्‌चालन भी लंबे समय तक पहेली बना रहा। प्रवासी पक्षी पहाड़ों पर से या समुद्र पर से उड़ते हैं जहां पहचान के कोई निशान नहीं होते। फिर वे अपना रास्ता कैसे ढूंढ लेते हैं? प्रवासी पक्षियों के बच्चे अपने माता-पिता के साथ ही प्रवास पर निकलें यह ज़रूरी नहीं। फिर भी वे पहली बार ही अपने गंतव्य पर कैसे पहुंच जाते हैं।

वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया कि पक्षी सूर्य की स्थिति से दिशा का पता लगाते हैं। यही नहीं, सूर्योदय के बाद सूर्य आकाश में हर घंटे में 15 डिग्री आगे बढ़ता है, इस आधार पर भी पक्षी दिशा निर्धारण करते हैं। हर पक्षी के शरीर में एक जैविक घड़ी होती है। समय की गति के साथ शरीर की गतिविधियों में होने वाले परिवर्तनों को ही 'जैविक घड़ी' कहते हैं। उदाहरण के लिए, जैसे-जैसे ठंड का मौसम समाप्त होता है रात की लंबाई घटना शुरू होती है और दिन की लंबाई बढ़ने लगती है। दिन की इस बढ़नी लंबाई के परिणाम स्वरूप कई जंतुओं के शरीर में प्रजनन से संबंधित प्रक्रियाएं शुरू हो जाती हैं। इस प्रकार के परिवर्तन जैविक घड़ी का भाग हैं। इस जैविक घड़ी का उपयोग कर के पक्षी यह हिसाब लगा लेते हैं कि सूर्योदय के बाद कितने घंटे हो चुके हैं और सूर्य की वर्तमान स्थिति के अनुसार उन्हें किस दिशा में जाना चाहिए।

जर्मनी में वैज्ञानिकों ने सबसे पहले पक्षियों की जैविक घड़ी के साथ छेड़छाड़ कर यह पता लगाने का प्रयास किया कि सूर्य की सहायता से पक्षी अपना रास्ता कैसे ढूंढ पाते हैं। कुछ प्रवासी पक्षियों को पिंजड़ों में बंद करके ऐसे स्थान पर रखा गया जहां से वे सूर्य को देख सकते थे। जब इन पक्षियों के वार्षिक प्रवास पर रवाना होने का समय आया तो वे उसी दिशा में उड़ने का प्रयास करने लगे जिस दिशा में उन्हें प्रवास करना था। जब दर्पणों की
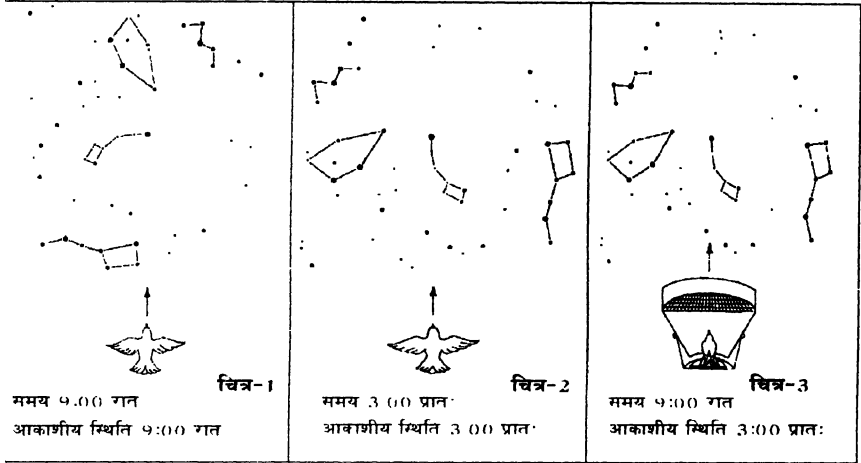
तारों से दिशा: पक्षी आकाश में तारों की स्थिति से भी दिशा पहचान सकते हैं। 'इंडिगो बंटिंग' पक्षी के साथ किए एक प्रयोग में उसे एक प्लेनेटेरियम में रखकर अलग-अलग समय पर आकाश में पाई जाने वाली तारों की स्थितियां दिखाई गईं।

प्लेनेटेरियम में दिखाए गए तारों की स्थिति गर्मी के मौसम की हो या जाड़े के, ये पक्षी उत्तर दिशा बखूबी पहचान पाए। इससे पता चलता है कि जब तक आकाश में ध्रुव तारे और उसके आसपास के प्रमुख नक्षत्रों की आपसी तुलनात्मक स्थिति बनी रहती है, वे उन्हें पहचान पाते हैं और उनसे दिशा का पता लगा लेते हैं।

चित्र 1 और 2 में दिखाया गया है कि चाहे रात के नौ बजे हों या सुबह के तीन, इंडिगो बंटिंग उत्तर की ओर ही उड़ते थे। फिर इन्हें प्लेनेटेरियम में बंद करके सुबह तीन बजे का आकाश दिखाया गया जबकि उस समय रात के नौ बजे थे – फिर भी वे उत्तर की तरफ ही उड़े। (चित्र-3)

सहायता से उन्हें यह धोखा दिया गया कि सूर्य अपनी असली स्थिति में न हो कर आकाश में कहीं और है, तब पक्षी भी उसी के अनुसार गलत दिशा में उड़ने का प्रयास करने लगे।

एक अन्य प्रयोग में एक विशाल पिंजड़े की पूरी गोलाई में कटोरियां रखी गईं किन्तु भोजन सिर्फ उत्तर-पश्चिम की ओर वाली कटोरी में रखा गया। धीरे-धीरे पक्षियों को यह पता चल गया कि भोजन सिर्फ उत्तर-पश्चिम वाली कटोरी में रखा जाता है। पिंजड़े को किसी भी स्थान पर ले जाने पर या दिन के किसी भी समय पक्षियों को पिंजड़े में छोड़ने पर वे ठीक उत्तर-पश्चिम वाली कटोरी के पास ही पहुंचते थे।

इसका मतलब यह हुआ कि सूर्य आकाश में कहीं भी हो, पक्षी किसी तरीके से दिशा पता कर लेते हैं।

दिन का तारा ही ज़्यादा महत्वपूर्ण: सूरज, चांद या तारों की मदद से पक्षी दिशा पहचान लेते हैं यह बात थोड़ी आसान लगती है लेकिन बादलों से घिरे आसमान में पक्षी दिशा कैसे पहचानते हैं? इस संबंध में एक विचार रखा गया कि पक्षी पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के आधार पर भी दिशा पहचानने की क्षमता रखते हैं।

इस बात की सच्चाई को जानने के लिए वैज्ञानिकों ने पक्षियों को चुंबकीय टोपी पहनाकर उनके आसपास पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के प्रभाव क्षेत्र को बदल दिया। यह देखा गया कि पक्षी दिक्भ्रमित हो गए। लेकिन साफ आसमान में पक्षियों पर चुंबकीय टोपी वगैरह का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे बड़ी आसानी से सूर्य के सहारे दिशा का पता लगा लेते हैं यानी पक्षी दिशा ज्ञान के लिए एक से अधिक क्षमताओं का इस्तेमाल करते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि अगर पक्षियों के पास दोनों जानकारियां उपलब्ध हों, तो वे आसमानी सितारों को ज़्यादा महत्व देते हैं बजाए चुंबकीय क्षेत्र के – इसलिए दिन में वे चुंबकीय टोपी पहने होने के बावजूद दिक्भ्रमित नहीं हुए।

ने इस प्रयोग को और आगे बढ़ाया। पक्षियों को चार से छह दिन तक बिलकुल अंधेरे कमरे में रखा गया और फिर उन्हें एक कृत्रिम सूर्य दिखाया, जो वास्तविक सूर्य के 6 घंटे बाद उदय होता था।

कुछ दिनों तक इस सूर्य को देखते रहने पर पक्षियों की जैविक घड़ी 6 घंटे पीछे हो गई और उनका दिशा-निर्धारण गड़बड़ा गया। जब उन्हें पुराने पिंजड़े में छोड़ा गया तो वे उत्तर-पश्चिम के बजाए उत्तर-पूर्व में स्थित कटोरी के पास पहुंचे जहां भोजन था ही नहीं।

जो पक्षी दिन-रात उड़कर अपना सफर तय करते हैं वे रात में तारों की सहायता से दिशा का पता लगाते हैं। किन्तु तारों की सहायता से दिक्चालन करते समय उन्हें तारों की बदलती स्थिति का हिसाब नहीं लगाना पड़ता। नक्षत्रों में तारों की जमावट से उन्हें दिशा का पता चल जाता है।

इन सब जानकारियों के बावजूद प्रश्नों का अंत नहीं होता। जब आकाश में घने बादल हों, न सूर्य को देख पाना संभव हो और न तारों को, फिर भी पक्षी सही दिशा का पता कैसे लगा लेते हैं?

अमेरिका में किए गए प्रयोगों से इस धारणा को बल मिला है कि पक्षियों में ऐसी क्षमता होती है जिसकी सहायता से वे पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र का उपयोग करते हुए दिशाओं का पता लगाते हैं। वैज्ञानिकों ने इस बात की भी पुष्टि की है कि सूर्य या तारे दिखाई पड़ने पर तो पक्षी दिक्चालन के लिए इन्हीं का उपयोग करते हैं, किन्तु बादल छाए होने पर पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र की सहायता से दिक्चालन करते हैं। कई कीटों और मछलियों में भी दिक्चालन के लिए पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के उपयोग के प्रमाण मिले हैं।

इटली में वैज्ञानिकों ने प्रयोगों से ऐसे प्रमाण जुटाए हैं कि पक्षियों, कम-से-कम कुछ पक्षियों, के द्वारा दिक्चालन के लिए सूंघने की शक्ति का उपयोग भी किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे सॅमन मछली करती है। संसार के विभिन्न भागों में हो रहे प्रयोगों के फलस्वरूप जंतुओं की दिक्चालन क्षमता का रहस्य धीरे-धीरे उजागर तो हो रहा है, किन्तु पूरी तस्वीर साफ होने में अभी काफी समय लगेगा।

आनुवांशिक स्मृति की बदौलत

अंत में एक बात स्पष्ट करना ज़रूरी है। दिशा का पता लगाने के लिए जंतु सूर्य, तारों, चुंबकीय क्षेत्र आदि की सहायता लेते हैं, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि इनमें वैसे ही बुद्धि होती है जैसी मनुष्य में। वे ऐसा अपनी सहज प्रवृत्ति (Instinct) के कारण कर पाते हैं जो इन्हें विरासत में मिलती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ये क्रियाएं इन जंतुओं की आनुवांशिक स्मृति (Genetic Memory) का भाग बन गई हैं, इन्हें सीखने की आवश्यकता नहीं होती।

आनुवांशिक स्मृति और बुद्धि के बीच अंतर को इस उदाहरण से बेहतर तरीके से समझा जा सकेगा। भारत में शीत ऋतु में आने वाले पक्षी फरवरी-मार्च में अपने ग्रीष्मकालीन मुकाम की ओर लौटने लगते हैं। यहीं ये प्रजनन भी करते हैं। जब फिर से शीतकालीन मुकाम पर जाने का समय होता है तब यह ज़रूरी नहीं होता कि बच्चे अपने माता-पिता के साथ ही प्रवास पर वापस जाएं।

उनकी आनुवांशिक स्मृति से न केवल उन्हें उड़ान की दिशा मालूम रहती है किन्तु सूर्य, तारों और पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र की सहायता से दिक्चालन की कला भी आती है। यही स्थिति ईल के बच्चों की भी होती है।

क्या मानव के बच्चे के साथ ऐसा होना संभव है? मनुष्य में बुद्धि का विकास, सीखने की प्रक्रिया से होता है और उसमें आनुवांशिक स्मृति की भूमिका शायद ज़्यादा नहीं होती है।

आनुवांशिक स्मृति और बुद्धि में एक और महत्वपूर्ण अंतर होता है। आनुवांशिक स्मृति के कारण जंतु यंत्रवत किसी क्रिया को करते हैं और उसमें परिवर्तन की गुंजाइश बहुत कम होती है।

मान लीजिए एक पक्षी गर्मी का मौसम काश्मीर में अनंतनाग के पास और ठंड का मौसम मध्य प्रदेश के झाबुआ ज़िले के किसी गांव में बिताता है तो उसमें यह क्षमता ही नहीं होती कि वह गर्मी के अगले मौसम में अनंतनाग के बजाए श्रीनगर या पहलगाम चला जाए या काश्मीर की मशहूर वूलर झील के किनारे जा कर रहे। उसे तो यंत्र के समान अनंतनाग के पास उसी स्थान पर जाना पड़ता है जहां उसके पूर्वज हज़ारों वर्षों से जाते रहे हैं। इसी प्रकार ठंड का मौसम झाबुआ के बजाए किसी अन्य ज़िले में बिताने की बात तो छोड़िए, उसमें अक्सर यह क्षमता भी नहीं होती कि वह अन्य किसी पेड़ पर भी बसेरा करे।

अमेरिका और यूरोप दोनों महाद्वीपों से ईल मछलियां प्रजनन के लिए अटलांटिक महासागर में लगभग एक ही स्थान पर आती हैं और इनके बच्चे उसी महाद्वीप की ओर लौटते हैं जहां से उनके माता-पिता आए थे। इसका कारण यह है कि अमरीकी ईल के बच्चों की आनुवांशिक स्मृति में यह समाहित है कि उन्हें अपने जन्मस्थान से पश्चिम की ओर जाना है और यूरोप की ईल के बच्चों की आनुवांशिक स्मृति में यह संकेत समाया हुआ है कि उन्हें पूर्व दिशा में ही जाना है। नतीजा यह है कि आज तक न कोई अमरीकी ईल यूरोप में पाई गई और न कोई यूरोप की ईल अमेरिका में!

आपने बया पक्षी का सुंदर घोंसला देखा होगा। आनुवांशिक स्मृति से ही ये पक्षी घोंसला बनाते हैं, किन्तु इसी कारण वे उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन भी नहीं कर सकते, न ही कोई अन्य पक्षी बया की नकल करके इस प्रकार का घोंसला बना सकता है।

आनुवांशिक स्मृति के विपरीत बुद्धि की विशेषता यह होती है कि एक बार कोई चीज़ सीख लेने पर उसमें परिवर्तन की गुंजाइश होती है।

अरविंद गुप्ते — प्राणी शास्त्र के प्राध्यापक, होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से जुड़ाव, प्रशासन अकादमी भोपाल में कार्यरत।

गुम होती बोलियां

● साधना सक्सेना

1961 की जनगणना के अनुसार हमारे देश में बोली जाने वाली कुल भाषाएं 1652 थीं। लेकिन 1981 की जनगणना में कुल भाषाओं की संख्या 106 ही रह गई। ऐसा क्यों हुआ होगा? आखिर जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ भाषाएं बोलने वालों की संख्या बढ़नी चाहिए न? क्या भाषाएं वाकई गुम होती हैं या फिर.

कुछ साल पहले की बात है। होशंगाबाद के पिपरिया शहर में 'हिन्दी दिवस' के उपलक्ष्य में मुझे एक वक्ता की हैसियत से आमंत्रित किया गया था। काफी दुविधा में थी कि क्या कहूं। हिन्दी भाषी होने के बावजूद भी मैं 'हिन्दी-भक्त' नहीं हूं और हिन्दी दिवस में वक्ता के रूप में आमंत्रित किया गया तो ज़ाहिर है कि अपेक्षित था कि मैं हिन्दी भाषा की महानता के विषय में ही कुछ कहूं। हिन्दी भी वह जो किताबों में लिखी

होती है, अखबारों में छपती है या फिर सरकारी आदेशों, निर्देशों में होती है, या फिर हमारी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में छपती है। यानी वह भाषा जिसका सहज बोलचाल, बातचीत, चर्चा की भाषा से अलग अपना परिष्कृत व औपचारिक स्वरूप है; जैसी हिन्दी शायद मैं यहां लिख रही हूं।

मेरी दुविधा कई स्तर की थी। हिन्दी ही क्यों? कौन-सी हिन्दी? हमें कैसे मालूम कि तेलगू या कश्मीरी या मराठी या उर्दू या एक कदम और आगे बढ़ें तो बुंदेली, बघेली, छत्तीसगढ़ी, गोंडी, संथाली, सादरी, कोरकू इत्यादि इतनी श्रेष्ठ भाषाएं नहीं हैं, और बिना औपचारिक रूप से कहीं लिखे ही अंग्रेज़ी को सर्वश्रेष्ठ भाषा का सामाजिक दर्जा कैसे मिल गया है? मैं सोच रही थी कि क्या अपने देश की भाषाई विविधता की बात करूं? क्या मैं तथाकथित 'हिन्दी क्षेत्र' की विभिन्न भाषाओं का ज़िक्र करूं और बताऊं कि इस क्षेत्र में ही बहुत सारे हिस्से ऐसे हैं जहां खड़ी हिन्दी न बोली जाती है न समझ में आती है? क्या मैं लोगों की मातृभाषा व अस्मिता के गहरे रिश्तों की बात करूं या 'हिन्दी क्षेत्र' के स्कूलों की भाषा और बच्चों की भाषा की दूरी की बात करूं?

बहरहाल, मैं अपने प्रश्नों के बारे में सोचते-सोचते एक के बाद एक कई वक्ताओं को सुनती रही। किसी ने कहा कि हिन्दी सर्वश्रेष्ठ भाषा है क्योंकि यह सबसे विकसित भाषा है तो किसी ने कहा कि यह साहित्यिक है, सबसे प्राचीन है, सबसे अधिक क्षेत्र में, सबसे अधिक लोगों द्वारा बोली जाती है। किसी ने तर्क दिया कि हिन्दी भाषा आसानी से सीखी जा सकती है, यह सबसे समृद्ध है व इस भाषा में महान लेखक हुए हैं। एक अन्य वक्ता ने समझाया कि इसकी सबसे अधिक उपभाषाएं हैं, इत्यादि-इत्यादि।

यह सब तर्क इस उद्देश्य से भी दिए जा रहे थे कि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिया जाना चाहिए क्योंकि तार्किक रूप से यह मांग एकदम सही है। मैंने यह भी देखा कि दो-तीन तेलगु भाषी जो पिपरिया के स्टेट बैंक में काम करते थे, कार्यक्रम के बीच में ही उठकर चले गए। मैं सोचती रह गई कि इस तरह के कथनों को कोरी कूपमंडूकता मानूं, अनभिज्ञता मानूं या विषय तय होने के कारण कुछ बोलने की बाध्यता मानूं। मुझे यह भी ध्यान में आया कि हिन्दी भाषियों में वास्तव में यह पूर्वाग्रह है कि हिन्दी तो सब समझते ही हैं यानी कि यह इतनी आसान है कि सब समझ जाएंगे। और आमतौर पर देश की भाषाई विविधता की जानकारी लोगों में बहुत कम है। यह जानना कि लोगों के जीवन में उनकी अपनी भाषा का क्या महत्व होता है, इसको समझना हमें अपने से

फर्क भाषा बोलने वालों के प्रति ज़्यादा संवेदनशील व धैर्यवान बनाएगा। तब शायद उत्तर भारत के लोगों के लिए महाराष्ट्र मे दक्षिण के सभी राज्यों की भाषाएं 'मद्रासी' नहीं होंगी।

इसी उद्देश्य से मैंने 'हिन्दी दिवस' पर बहुभाषाई भारत की बात की जिसे अब इस लेख के माध्यम से सबके सामने रख रही हूं। मैं इस लेख के माध्यम से दो तरह के तथ्य रखने का प्रयास करूंगी जिनसे मुझे भारत जैसे देश की भाषाई विविधता को समझने में मदद मिली। एक प्रकार की जानकारी का संबंध हमारी संवैधानिक प्रक्रिया से है और दूसरी प्रकार की जानकारी भाषा-विज्ञान के दायरे में आती है।

संवैधानिक भाषाएं

हमारे देश के संविधान के आठवें शैड्यूल में अठारह भाषाओं को सूची-बद्ध किया गया है। इन भाषाओं को संवैधानिक भाषाओं का दर्जा मिला है। भारत की कोई भी राष्ट्रभाषा नहीं है जैसे रूस की 'रूसी' है या चीन की 'चीनी' है। सिद्धांततः भारत सरकार के साथ इन अठारह भाषाओं में से किसी भी भाषा में पत्र-व्यवहार किया जा सकता है (हालांकि यह सिर्फ

सिद्धांत की बात है। व्यवहार में पत्र-व्यवहार मात्र अंग्रेज़ी में या यदा-कदा हिन्दी में होता है)। सबसे पहले सन् 1950 में मात्र चौदह भाषाओं को संवैधानिक भाषा का दर्जा दिया गया था। ये भाषाएं थीं: आसामी, बंगाली, गुजराती, हिन्दी, कश्मीरी, कन्नड़, मराठी, मलयालम, उड़िया, पंजाबी, तमिल, तेलगु, उर्दू और संस्कृत। 1967 में सिंधी व आठवें दशक में नेपाली, कोंकणी व मणीपुरी को भी शामिल कर लिया गया। इसलिए एक तरह से यह काफी अच्छी बात है कि हमारे जैसे बहुभाषाई देश की एक राष्ट्रभाषा नहीं है। परन्तु 1950 में हिन्दी को राष्ट्रीय शासकीय (ऑफिशियल) भाषा का दर्जा दे दिया गया था। देवनागरी लिपि में लिखी हिन्दी भाषा को भारत सरकार की भाषा और केन्द्र सरकार व राज्य सरकारों के बीच संपर्क की भाषा का दर्जा दिया गया था और साथ ही यह प्रावधान था कि सभी राज्य हिन्दी समेत आठवें शैड्यूल में सूचीबद्ध किसी भी भाषा का इस्तेमाल प्रशासनिक कार्यों के लिए कर सकते हैं। हालांकि अंग्रेज़ी आठवें शैड्यूल में सूचीबद्ध भाषाओं में शामिल नहीं है फिर भी 1950 में यह प्रावधान किया गया था कि सरकारी कार्यों में पन्द्रह वर्षों तक यानी 1965 तक अंग्रेज़ी भी, हिन्दी के साथ एक सहभाषा की हैसियत से इस्तेमाल की जा सकती है। अब यह समय सीमा अनिश्चित काल के लिए बढ़ा दी गई है। इस प्रकार अंग्रेज़ी का दर्जा आज भी बरकरार है।

जनगणना और गुम होती भाषाएं

अब थोड़ी नज़र इस बात पर डालें कि आखिर हमारे देश में भाषाएं हैं कितनी? 1961 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार, जिसमें लगभग हर मातृभाषा को रिकॉर्ड करने का प्रयास किया गया था, हमारे देश में बोली जाने वाली 1652 भाषाएं थीं। इसमें से करीब दो सौ भाषाएं ऐसी थीं जिनको व्यवहार में लाने वालों यानी बोलने वालों की संख्या दस हज़ार या उससे अधिक थी।

1971 की जनगणना के अनुसार कुल भाषाओं की संख्या सिर्फ 221 ही रह गई व 1981 में मात्र 106, ऐसा क्यों हुआ होगा? आखिर जनसंख्या बढ़ने के साथ-साथ विभिन्न भाषाएं बोलने वालों की संख्या बढ़नी चाहिए; बीस साल की इस अल्प अवधि में इतनी बड़ी संख्या में न तो भाषाएं लोप होती हैं न लोग अपनी मातृभाषा छोड़ देते हैं। सुमि कृष्णा, जिनकी पुस्तक 'इन्डियाज़ लिविंग लैंग्वेजेस' से मैंने कई जानकारियां ली हैं, ने कारण ढूंढने का प्रयास किया कि आखिर ऐसा क्यों हुआ होगा। अपनी इस पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि 1981 की जनगणना

मुख्य भाषा के आधार पर हुई थी और कई मातृभाषाओं को समूह बनाकर उन सबको एक मुख्य भाषा के अंतर्गत ही गिना गया।

श्री कृष्णमूर्ति ने 'लैंग्वेज एण्ड द स्टेट' पुस्तक में छपे अपने लेख में लिखा है कि 1971 की जनगणना के समय ही जनगणना आयुक्त को यह सलाह दी गयी थी कि वह ऐसी सभी भाषाओं को सूचीबद्ध न करवाएं जिनको बोलने वालों की संख्या दस हज़ार से कम है। जनगणना के दौरान आंकड़े कैसे इकट्ठे किए जाते हैं यह भी एक महत्वपूर्ण बात है परन्तु बात सिर्फ इतनी ही नहीं है। ऐसी मातृभाषाओं को सूचीबद्ध न किया जाना तो एक पहलू है ही, पर इन मातृभाषाओं या बोलियों को किसी प्रमुख भाषा का अपभ्रंश माना जाना कितना सही है यानी इस नीति के चलते भोजपुरी या मघई या छत्तीसगढ़ी, यहां तक की पंजाबी बोलने वालों को भी हिन्दी-भाषी ही कहा जाएगा चाहे उन्हें हिन्दी समझ में आती हो या नहीं।

इस प्रकार 1981 की जनगणना के अनुसार देश में हिन्दी बोलने व समझने वालों की संख्या छब्बीस करोड़ हो गई थी। यानी हिन्दी बोलने वालों की संख्या कुल जनसंख्या का चालीस प्रतिशत आंकी गई। ऐसा किस समझ के तहत हुआ होगा? एक कारण तो यही था कि 1981 की जनगणना में चालीस भाषाओं को हिन्दी भाषा की उपभाषाएं माना गया। यह वह पूरा क्षेत्र है जो 'हिन्दी भाषी क्षेत्र' कहलाता है। बल्कि सुमि कृष्णा के अनुसार आंकड़ों को ध्यान से देखने पर लगता है कि जैसे भारत की नब्बे करोड़ की जनसंख्या संवैधानिक अठारह भाषाओं में से कोई-न-कोई भाषा बोलती या इस्तेमाल करती ही है।

जिस प्रकार हिन्दी भाषा के अंतर्गत चालीस अन्य भाषाओं को इकट्ठा किया गया, उसी प्रकार का एक और उदाहरण देखें। 1961 में उड़िया बोलने वालों की संख्या डेढ़ करोड़ आंकी गई थी। 1981 तक आते-आते यह संख्या तीन करोड़ हो गई, परन्तु उड़ीसा में ही आदिवासी भाषाएं – खरिया व भूमजी बोलने वालों की संख्या इन्हीं दो दशकों में क्रमश: एक लाख चालीस हज़ार से घटकर इक्यानवे हज़ार व उनचास हज़ार से घटकर अट्ठाईस हज़ार रह गई। खरिया व भूमजी बोलने वाले लोगों को, जो उड़िया से एकदम फर्क भाषाएं हैं, उड़िया भाषा के तहत मानना क्या सही है?

इसलिए 1971 व 1981 के जनगणना के आंकड़ों से हमारे देश की भाषाई विविधता का सही चित्र

होगा कि बाकी भाषाएं पिछड़ी हुई हैं, कम विकसित हैं, कम समृद्ध हैं, इसलिए पीछे छूट गई हैं?

इस मुद्दे पर भाषाविदों का कहना है कि भाषाएं इस्तेमाल होने से ही समृद्ध होती हैं। वे लोगों के जीवन और संस्कृति का हिस्सा होती हैं। भाषाओं की समृद्धि मात्र उनके लिखे या न लिखे होने पर निर्भर नहीं होती। भाषाविदों का यह भी मत है कि हर भाषा का एक ढांचा होता है, शब्दावली होती है, वाक्य संरचना के नियम होते हैं चाहे उसका लिखित स्वरूप प्रचलित हो या न हो। यानी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बोलियां भी पूर्ण विकसित भाषाएं हैं ।

इसलिए ये मान्यता गलत है कि भाषा की तुलना में बोलियां पिछड़ी हैं या कम समृद्ध हैं। गैरबराबरी सामाजिक व राजनैतिक प्रक्रिया का परिणाम है जिससे कुछ भाषाएं 'गंवारू व अशिष्ट' कहलायी जाने लगती हैं लेकिन कुछ गिनी-चुनी भाषाएं, जिनको संवैधानिक या साहित्यिक या शैक्षिक या व्यवसायिक संस्थाओं से मान्यता मिल जाती है, उनकी सामग्री छपने लगती है, वे आगे बढ़ जाती हैं – चाहे वे कम लोगों के द्वारा ही इस्तेमाल हो रही हों।

लोगों की अपनी मातृभाषा से गहरे भावनात्मक लगाव के साथ-साथ अपनी अस्मिता, आत्मसम्मान व आत्मविश्वास जुड़ा होता है। इसकी गहरी सांस्कृतिक जड़ें होती हैं जिन्हें आंकड़ों से छुपाकर मिटाया नहीं जा सकता। इसलिए किसी एक भाषा की महानता या प्राचीनता या अन्य कई मापदण्डों का ज़िक्र करते हुए यदि हम यह भी ध्यान रख पाएं कि हमारे देश में बहुत-सी और भाषाएं भी इसी स्तर की हैं तो हम भाषाई विवादों को ज़्यादा रचनात्मक मोड़ दे सकेंगे।

साधना सक्सेना – शिक्षा से गहरा लगाव, राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा संस्थान, नई दिल्ली में कार्यरत।

इस लेख की अधिकतर तथ्यात्मक जानकारियां निम्न दो पुस्तकों से ली गई हैं:

1. ***'इण्डियाज़ लिविंग लैंग्वेजेस'***, *सुमि कृष्णा, अलाईड पब्लिशर्स, 1991*
2. ***'लैंग्वेज एण्ड द स्टेट – पर्सपेक्टिव्स ऑन द एट्थ शैड्यूल'*** *प्रो. आर.एस. गुप्ता, प्रो. अन्विता अब्बी व डॉ. कैलाश अग्रवाल द्वारा संपादित, क्रिएटिव बुक्स, 1995*

क्यों नहीं लगता करंट

अजय शर्मा
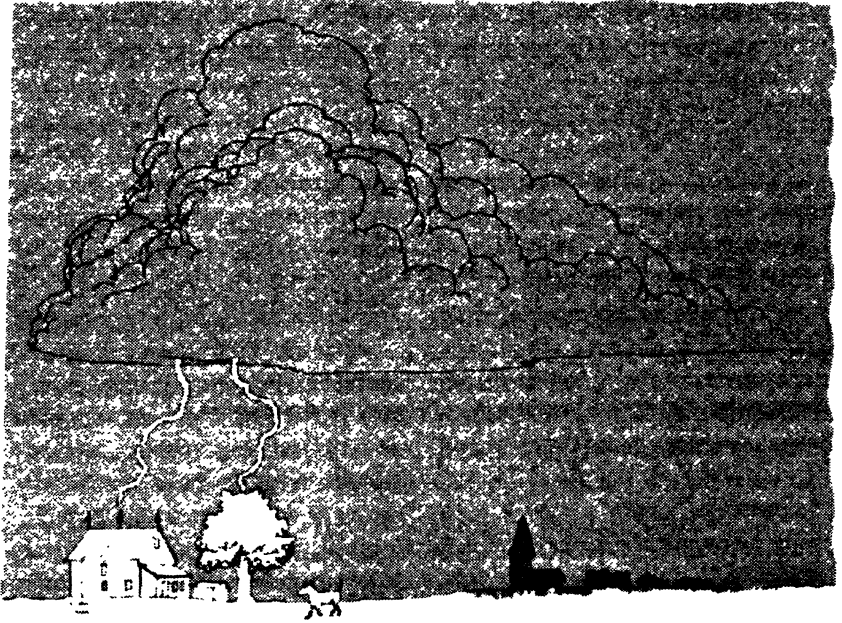
फ़र्ज़ कीजिए कि आप और मैं पैदल सैर पर निकले हैं। गप्पों का सिलसिला पूरे ज़ोरों पर है और ऐसे में मैं आप से कहता हूं, "क्या आप को मालूम है कि इस समय धरती और आप की नाक की ऊंचाई के बीच करीब 200 वोल्ट का विद्युत विभव अंतर है।" मुमकिन है कि आपको लगे कि मैं फिर कोई नई 'ढील' दे रहा हूं! आप तत्काल कुछ प्रश्न दाग देंगे। मसलन, "अच्छा, अगर ऐसा है तो हर बार जब हम घर से निकलते

क्या आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि धरती और वायुमंडल की 'छत' के बीच कुल कितना विद्युत विभव अंतर होगा? चौंकिए नहीं, यह अंतर मात्र 4,00,000 वोल्ट का ही होता है। इस विभव अंतर की उत्पत्ति को समझना थोड़ा पेचीदा मसला है। पर एक मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि यह विद्युत विभव अंतर इसलिए मौजूद होता है क्योंकि धरती की सतह का कुल आवेश ऋणात्मक है और वायुमंडल की किसी भी परत का कुल आवेश धनात्मक।

हैं तो दो सौ वोल्ट का करारा झटका क्यों नहीं लगता?" हो सकता है कि आप यह भी फरमाएं, "जब ऐसा ही है तो हम बिजली की कमी का रोना क्यों रोते हैं। दो इलेक्ट्रोड को दो मीटर की ऊंचाई के अंतर पर हवा में टांग कर जब मन करे, मुफ्त में बिजली प्राप्त क्यों नहीं कर लेते हैं?" सवाल बिलकुल वाजिब है। पर हुजूर गप्प तो मैं भी नहीं मार रहा हूं।

दरअसल, अपना वायुमंडल है ही ऐसी पेचीदा और अजीबोगरीब 'वस्तु'। इसके अनेक पहलू हमें बेहद आश्चर्य-जनक ही लगते हैं। ऊपर दागे गए प्रश्न इनमें से एक बेहद दिलचस्प पहलू को उजागर करते हैं। यह लेख इसी पहलू पर केन्द्रित है। पर आपके सवालों के जवाब देने से पहले बेहतर होगा कि हम विद्युत विभव और विद्युत धारा जैसी अवधारणाओं के बारे में अपनी समझ फिर से तरोताज़ा कर लें। इससे हमें वायुमंडल के विद्युतीय गुणधर्मों को सुगमता से समझने में मदद मिलेगी।

आवेश का प्रभाव क्षेत्र

जैसा कि संदर्भ पत्रिका के सातवें अंक में प्रकाशित 'बिजली और आवेश' लेख में मैंने ज़िक्र किया था – प्रकृति में कई कण एक 'विशेष' गुणधर्म प्रदर्शित करते हैं जिसे हम विद्युत आवेश के नाम से पहचानते हैं। सरल शब्दों में, विद्युत आवेश वह गुणधर्म है जिसके कारण आवेशित कण (यानी जिन पर आवेश होता है) एक दूसरे पर विद्युत या विद्युत चुम्बकीय बल – आकर्षण या विकर्षण – डालते हैं। विद्युत आवेश दो किस्म का होता है – धन और ऋण। समान आवेश धारण किए कण एक दूसरे को विकर्षित करते हैं और असमान रूप से आवेशित कण एक दूसरे को आकर्षित।*

* विद्युत आवेश का मापन कूलंब नामक इकाई में किया जाता है।

आवेशित कण एक दूसरे पर यह बल विद्युत क्षेत्र की मदद से लगाते हैं। दरअसल होता यह है कि हरेक आवेशित कण अपने चारों ओर एक विद्युत क्षेत्र को जन्म देता है। अब अगर इस क्षेत्र में कोई दूसरा आवेशित कण भी मौजूद है तो उस पर एक विद्युत या विद्युत-चुम्बकीय बल ज़रूर लगेगा। यह बल कितना और किस दिशा में लगेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस बिन्दु (जहां पर दूसरा आवेशित कण मौजूद है) पर विद्युत क्षेत्र का मान और दिशा क्या है। विद्युत क्षेत्र के मान से हमारा तात्पर्य उस बिन्दु पर लगने वाले विद्युत बल प्रति आवेश से है।

अब जिस तरह किसी चुम्बक के चुम्बकीय क्षेत्र को हम अक्सर बल रेखाओं द्वारा दर्शाते हैं, उसी तरह किसी विद्युत क्षेत्र को दर्शाने के लिए भी विद्युतीय बल रेखाओं का उपयोग काफी प्रचलित है (चित्र-1 अ, ब और स)।

चित्रात्मक प्रस्तुति करते वक्त बल रेखाओं की आपस में दूरी विद्युत बल की शक्ति का प्रतीक है।* यानी अगर किसी जगह यह बल रेखाएं थोड़ी दूरी पर बनाई गई हैं या थोड़ी बिखरी हुई हैं तो वहां पर विद्युत बल कमज़ोर होगा, और अगर बल रेखाएं पास-पास सटी हुई बनाई गई हैं तो उसका अर्थ है कि वहां विद्युत बल का मान ज़्यादा होगा। एक पृथक आवेश की

चित्र-1 अ: एक धन आवेश की बल रेखाएं
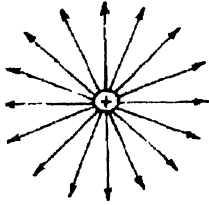
चित्र-1 ब: धन और ऋण आवेश के बीच विद्युत बल रेखाएं
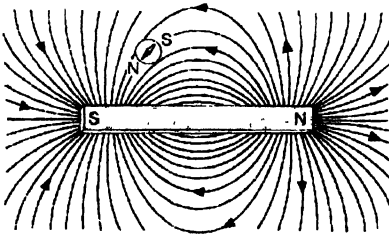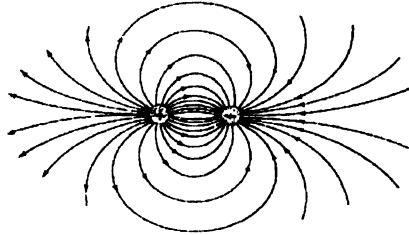
चित्र-1 स: छड़ चुंबक की चुंबकीय बल रेखाएं

* विज्ञान की और बहुतेरी मान्यताओं की तरह यह भी एक मान्यता है।

बल रेखाएं अनंत तक जाती हैं। जबकि दो या अधिक विपरीत आवेशों के विद्युत क्षेत्र को उन बल रेखाओं द्वारा दर्शाया जाता है जो धनात्मक आवेश से निकल कर ऋणात्मक आवेश पर खत्म होती हैं।

विभव: आखिर क्या बला है

आइए अब देखते हैं कि विद्युत विभव की अवधारणा विद्युत क्षेत्र के सिद्धांत से कैसे उत्पन्न होती है। किसी भी विद्युत क्षेत्र की एक खासियत यह भी होती है कि किसी भी आवेशित पिंड का विद्युत क्षेत्र दूरी के साथ क्षीण होता जाता है और अनंत दूरी पर जाकर लुप्त हो जाता है। अब फर्ज़ कीजिए कि एक आवेशित कण चित्र में दर्शाए आवेशित पिंड से अनंत दूरी पर स्थित है। दोनों धनात्मक रूप से आवेशित हैं, पर पिंड का आवेश कण के आवेश से कहीं ज़्यादा (चित्र-2अ)।

ऐसी स्थिति में कण पर पिंड के आवेश के कारण लगने वाला विद्युत विकर्षण बल भी शून्य ही होगा। अब हम कण को पिंड की ओर खिसकाना शुरू करते हैं। ज़ाहिर है कि जैसे-जैसे कण पिंड के करीब आता जाएगा, उस पर न सिर्फ विद्युत विकर्षण बल लगने लगेगा, बल्कि वह बल घटती हुई दूरी के साथ बलवती भी होता जाएगा। यानी अगर हम आवेशित कण को पिंड की ओर ढकेलते हैं तो हमें विद्युत विकर्षण के खिलाफ ऊर्जा व्यय करनी पड़ेगी। अब इस काम में हम जितनी भी ऊर्जा खर्च करते हैं, वह नष्ट तो हो नहीं सकती (ऊर्जा संरक्षण नियम की बदौलत)। तो फिर वह ऊर्जा जाती कहां है? दरअसल यह ऊर्जा उस कण की अपनी 'विद्युत विभव ऊर्जा' में परिवर्तित हो जाती है। यानी किसी भी विद्युत क्षेत्र में मौजूद हरेक आवेशित कण में एक निश्चित मात्रा में विद्युत विभव ऊर्जा अवश्य ही होगी (चित्र-2ब)। इस ऊर्जा को हम 'विभव ऊर्जा' इसलिए कह रहे हैं क्योंकि इसकी मात्रा इस बात पर निर्भर करती है कि वह आवेशित कण विद्युत क्षेत्र में किस बिन्दु पर स्थित है। अक्सर देखा गया है कि विद्युत क्षेत्र में किसी बिन्दु पर एक इकाई धन आवेश की कुल
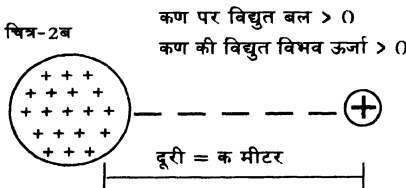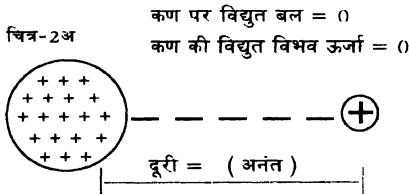
विद्युत विभव ऊर्जा कितनी होगी, यह जानना वैज्ञानिकों को विद्युत संबंधी सवालों का हल ढूंढने में काफी उपयोगी साबित होता है। इसलिए इस मात्रा को भौतिकी में एक अलग से नाम दिया गया है — विद्युत विभव।

$$\text{किसी बिन्दु का विद्युत विभव} = \frac{\text{उस बिन्दु पर उपस्थित आवेशित कण की कुल विद्युत विभव ऊर्जा}}{\text{उस कण का कुल आवेश}}$$

विद्युत विभव का मापन वोल्ट नाम की इकाई में होता है। इसलिए विद्युत विभव को अक्सर 'वोल्टेज' के नाम से भी जाना जाता है।

हमारी अब तक की चर्चा से स्पष्ट है कि विद्युत क्षेत्र में किसी भी बिन्दु पर विद्युत क्षेत्र (यानी विद्युत बल/आवेश) जितना अधिक प्रबल होगा, उस बिन्दु का विद्युत विभव भी उतना ही अधिक होगा। अब फर्ज़ कीजिए कि एक विद्युत क्षेत्र में दो बिन्दु हैं 'अ' और 'ब' (चित्र-3)। इस विद्युत क्षेत्र में हम एक आवेशित कण को 'अ' बिन्दु पर इधर-उधर विचरने के लिए खुला छोड़ देते हैं। मान के चलिए कि इस कण पर विद्युत बल के अलावा और कोई बल नहीं लग रहा है। कण को 'अ' बिन्दु पर छोड़ते ही हम देखते हैं कि वह 'ब' बिन्दु की ओर भाग उठता है।

अब बताइए कि किस बिन्दु का विद्युत विभव ज़्यादा होगा? 'अ' का या 'ब' का?

ज़ाहिर है विद्युत विभव 'अ' का ही ज़्यादा होगा। आवेशित कणों को हम ज़्यादा वोल्टेज से कम वोल्टेज की ओर ही दौड़ता पाते हैं। एक तरह से देखा जाए तो आवेशित कणों का यह गुण हमारे लिए किसी वरदान से कम नहीं है। दो विभिन्न विद्युत विभव वाले बिन्दुओं के बीच आवेशित कणों को बहा कर वैज्ञानिकों ने हमें न जाने कितने सुख-सुविधा के सामान मुहैया करा दिए हैं। मेरा इशारा शायद आप समझ ही गए होंगे। जी हां, मैं विद्युत-धारा (या करंट) की ही बात कर रहा हूं। आखिर विभिन्न विभव वाले दो सिरों के बीच आवेशित कणों के प्रवाह को ही तो हम विद्युत-धारा कहते हैं। विद्युत-धारा का मापन हम एम्पीयर नाम की इकाई में करते हैं।
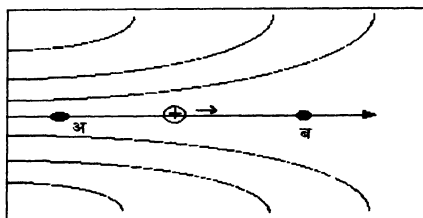
चित्र-3: विद्युत क्षेत्र में आवेशित कण की गति — उच्च विभव क्षेत्र से निम्न विभव क्षेत्र की ओर।

चूंकि कई किस्म के कणों पर आवेश हो सकता है, इसलिए संभव है कि अलग-अलग पदार्थों में करंट अलग-अलग किस्म के आवेशित कणों के प्रवाह के कारण हो। मसलन, धातुओं (जैसे तांबे के तार) में विद्युत धारा प्रवाह इलेक्ट्रॉन नाम के ऋण आवेशित कणों के बहने से ही होता है। तरल पदार्थों में या वायुमंडल में एक अलग तरह के आवेशित कणों, जिन्हें 'आयन' कहते हैं, का प्रवाह विद्युत-धारा बन सकता है।

गौर करें चित्र-4 अ, ब और स पर। चित्र में दर्शाई स्थिति से स्पष्ट है कि समय के साथ पानी के प्रवाह के कारण पानी के तलों में, और उष्मा के बहने से दोनों छोरों के तापमान में अंतर घटने लगेगा, और अंततः समानता आ जाएगी। लगभग ऐसा ही विद्युत प्रवाह के साथ होता है। यानी विद्युत प्रवाह भी दोनों बिन्दुओं (जिनके बीच करंट बह रहा है) के विद्युत विभव अंतर को खत्म कर देता है। ऐसे में विद्युत धारा प्रवाह भी अस्थाई ही होगा।

इसलिए अगर हम चाहते हैं कि करंट चालू रहे, तो कुछ ऐसा इंतज़ाम करना पड़ता है जिससे दोनों छोरों के बीच का विद्युत विभव अंतर यथावत कायम रहे। ऐसा हम दोनों छोरों को 'वोल्टेज स्रोत' नाम के साधन से जोड़
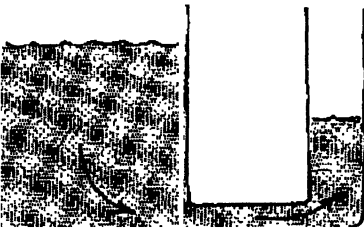
चित्र-4 अ: पानी प्रवाह की दिशा
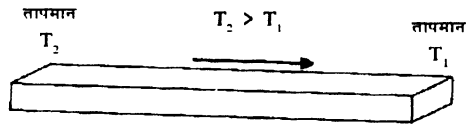
चित्र-4 ब: ऊष्मा प्रवाह की दिशा

चित्र-4 स
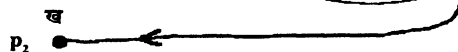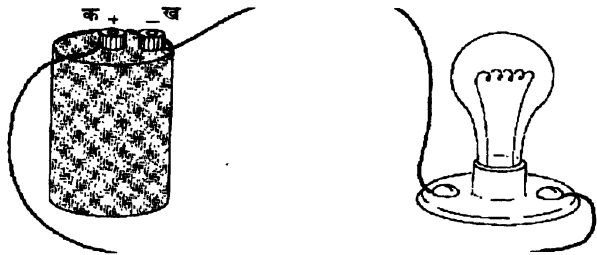
चित्र-4 द

कर हासिल कर सकते हैं (चित्र-4द)। 'वोल्टेज स्रोत' विभव अंतर को एक निर्धारित मान पर बरकरार रखता है। वोल्टेज स्रोत कई प्रकार के होते हैं, जिनमें प्रमुख हैं 'बैटरी' और 'जनरेटर'।

क्यों नहीं लगता झटका

वोल्टेज और करंट पर इस संक्षिप्त चर्चा के बाद आइए अब वापस चलें उन सवालों पर जो इस लेख की शुरूआत में हमने अनुत्तरित छोड़ दिए थे। यह बात बिलकुल सही है कि अगर आप किसी सामान्य दिन (यानी जब आपके ऊपर घनघोर बादल न छाए हों और बिजली न कड़क रही हो), किसी भी खुली जगह – ज़मीन या समुद्र की सतह – पर खड़े हैं तो आपके पैर और सिर की ऊंचाई के बीच 150-200 वोल्ट का विद्युत विभव अंतर ज़रूर होगा। दरअसल, हमारे वायुमंडल की यह अनूठी विशेषता है कि धरती की सतह से हर एक मीटर ऊपर जाने पर उस ऊंचाई का विद्युत विभव, धरती के बनिस्बत सौ वोल्ट से बढ़ जाता है। यानी अगर हम धरती का विद्युत विभव शून्य मान लें तो उससे एक मीटर की ऊंचाई पर वायुमंडल के हरेक बिन्दु का विद्युत विभव 100 वोल्ट (औसत मान) होगा। दो मीटर की ऊंचाई पर वोल्टेज 200 वोल्ट होगा। और इसी तरह आगे भी।*

क्या आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि धरती और वायुमंडल की 'छत' के बीच कुल कितना विद्युत विभव अंतर होगा? चौंकिए नहीं, यह अंतर मात्र 4,00,000 वोल्ट का ही होता है।** इस विभव अंतर की उत्पत्ति को समझना थोड़ा पेचीदा मसला है। पर

* बढ़ोत्तरी की यह दर काफी ऊंचाई तक कायम रहती है। पर वायुमंडल में ज़्यादा ऊपर जाने पर यह दर ज़रूर कम होती चली जाती है।

** चार लाख वोल्ट हमें भले ही बहुत बड़ी मात्रा लगे पर आसमान से बिजली कड़काने के लिए यह अपर्याप्त ही है। बिजली गिरने के लिए लाखों नहीं करोड़ों वोल्ट का विभव अंतर चाहिए।

एक मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि यह विद्युत विभव अंतर इसलिए मौजूद होता है क्योंकि धरती की सतह का कुल आवेश ऋणात्मक है और वायुमंडल की किसी भी परत का कुल आवेश धनात्मक। अब जब भी ऐसा होता है यानी एक किस्म के आवेश एक छोर पर इकट्ठा हो जाते हैं और दूसरी किस्म के दूसरे छोर पर, तो उन दो छोरों के बीच विद्युत विभव अंतर पैदा होना स्वाभाविक है — ठीक किसी बैटरी की तरह।

अब पेश है आपके पहले सवाल का जवाब।

चूंकि धरती से एक ऊंचाई पर स्थित सभी बिन्दुओं का विद्युत विभव एक समान ही होता है हम वायुमंडल में विभिन्न ऊंचाईयों वाली अनेक सतहों की कल्पना कर सकते हैं। ऐसी हर काल्पनिक सतह पर विद्युत विभव का एक निश्चित मान होगा।* सबसे निचली सतह तो धरती ही होगी, और इसका विद्युत विभव होगा शून्य वोल्ट। सामान्य परिस्थितियों में यह सतहें धरती के समानान्तर होती हैं, जैसा कि चित्र-5अ में दर्शाया गया है।

जब हम सपाट धरती पर कहीं खड़े होते हैं तो विद्युत विभव की स्थिति थोड़ी बदल जाती है। क्योंकि हमारा शरीर एक ठीक-ठाक सुचालक है इसलिए धरती पर मौजूद ऋण आवेश हमारे शरीर पर भी फैल जाते हैं। फलस्वरूप हमारे शरीर के हर बिन्दु का विद्युत विभव धरती की सतह के विद्युत विभव के बराबर हो जाता है। लिहाज़ा सम विभव सतह (equipotential suface) भी थोड़ी टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है जैसे कि चित्र-5ब में

चित्र-5अ: धरती के ऊपर विद्युत विभव वितरण।

+300V
+200V
E = 100V/m
+100V
0
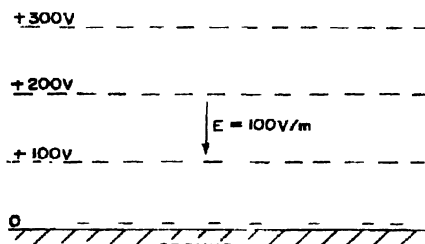
चित्र-5ब: विभव वितरण जब हम सपाट ज़मीन पर खड़े होते हैं।
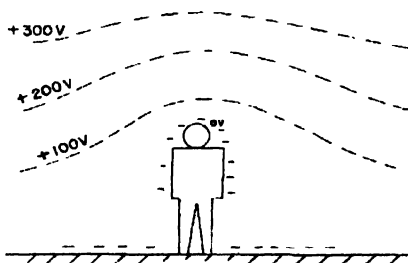
दिखाया गया है। ऐसे हालातों में स्वाभाविक है कि हमारे सिर और पैर के बीच विद्युत विभव अंतर भी लगभग शून्य होगा।

हमारी पिछली चर्चा के अनुसार करंट बहने के लिए विद्युत विभव अंतर होना अनिवार्य है। इसलिए ऐसे में हमें बिजली का झटका भला क्यों लगे? दूसरे सवाल का उत्तर भी इसी जवाब में छुपा हुआ है। इसलिए आपके सिर खुजलाने के लिए मैं दूसरा सवाल अनुत्तरित ही छोड़ रहा हूं। उम्मीद है इसका हल आपको थोड़ी मेहनत-मशक्कत के बाद मिल ही जाएगा।

धरती बनाम बटरी

वैसे प्रश्नों का सिलसिला अभी खत्म नहीं हुआ है। ऊपर दिया गया हमारा जवाब कुछ और नए और दिलचस्प प्रश्न खड़े कर देता है। मसलन, जब आसमां और ज़मीन के बीच विद्युत विभव अंतर है तो क्या इन दोनों के बीच करंट भी बहता होगा? जी हां, ऐसा ही होता है। समान्य परिस्थितियों में वायुमंडल से धरती तक धनात्मक रूप से आवेशित आयनों के ज़रिए कुछ मात्रा में करंट अनवरत बहता रहता है। पर चिंता की कोई बात नहीं, यह मात्रा बेहद कम होती है सिर्फ दस माइक्रो-माइक्रो एम्पियर प्रति वर्गमीटर (औसत मान)। यानी धरती के एक वर्ग मीटर क्षेत्रफल में लगभग 10^{-12} एम्पियर करंट ही प्रवेश कर पाता है। इसके लिए हमें शुक्रगुज़ार होना चाहिए वायु का, क्योंकि उसकी कुचालकता के कारण ही वायुमंडलीय करंट इतना क्षीण होता है।

पर हमारी पूरी पृथ्वी तो बहुत विशाल है। उसकी सतह पर न जाने कितने वर्ग-मीटर होंगे। क्या आप अंदाज़ा लगा सकते हैं कि संपूर्ण धरती पर वायुमंडल से कुल कितना करंट लगातार बहता रहता होगा? यह मात्रा है सिर्फ 1800 एम्पीयर।
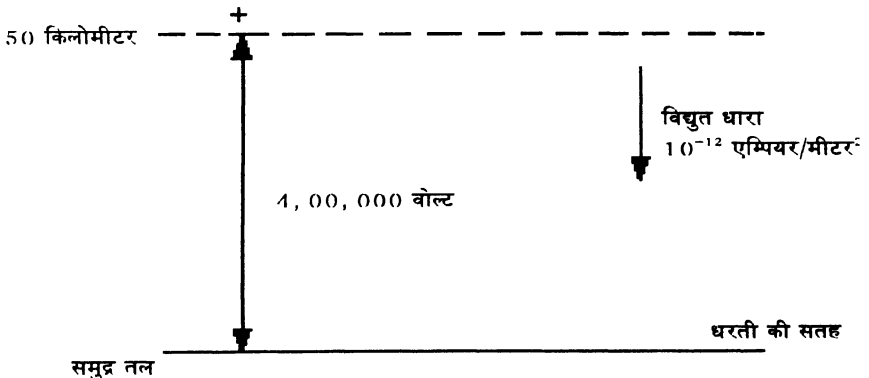
चित्र-6: साफ मौसम में वायुमंडल की विद्युतीय स्थिति

उम्मीद है कि आप सहमत होंगे अगर मैं अपनी इस पृथ्वी की एक विशालकाय विद्युतीय मशीन से तुलना करूं जिससे 4,00,000 वोल्ट पर 1800 एम्पियर करंट लगातार बहता रहता है। इस बैटरी की विद्युतीय शक्ति होगी – 4,00,000 वोल्ट × 1800 एम्पियर, यानी लगभग 700 मेगावॉट!

हमारा अनुभव है कि किसी भी बैटरी से अगर लगातार करंट बहता है तो उसे डिस्चार्ज होने यानी चुकने में ज़्यादा समय नहीं लगता। ऐसी गणना की गई है कि यदि ज़मीन और आसमां के बीच विद्युत-विभव अंतर किसी भी तरह बरकरार न रखा जाए, तो 1800 एम्पियर का वायुमंडलीय करंट मात्र आधे घंटे तक ही बहेगा। पर आधे घंटे से ज़्यादा समय तो मुझे यह लेख लिखते हुए ही हो गया है। तो फिर वह कौन-सी प्राकृतिक बैटरी है जो कभी डिस्चार्ज नहीं होती और जिसके ज़रिए ज़मीन और आसमां के बीच 4,00,000 वोल्ट या विद्युत विभव अंतर चिरकाल से कायम है? यह कोई छोटा-मोटा सवाल नहीं है। बल्कि एक ज़माने में तो इसे वायुमंडल की एक बड़ी पहेली की इज़्ज़त बक्शी जाती थी। वैसे मज़े की बात यह है कि इस 'बैटरी' से मानव शुरू से ही परिचित रहा है। यकीन न आए तो इस लेख के शुरुआती चित्र की तरफ एक नज़र डालें जिसमें यह 'बैटरी' दर्शाई गयी है। जी हां, झंझावात (Thunderstorm) और वज्रपात ही वह इंतज़ाम है जिसके कारण पृथ्वी की विद्युतीय मशीन कभी नहीं रुकती।

वैसे यह पूरा मसला काफी पेचीदा है, पर अगर एक प्राथमिक स्तर पर समझना चाहें तो माज़रा कुछ इस प्रकार है।

साधारणतः झंझावात में ऋण और धन आवेशों का संतुलन बिगड़ जाता है। धन आवेश बादलों के ऊपरी हिस्सों में पहुंच जाते हैं और ऋण आवेश निचले हिस्सों में इकट्ठा होने लगते हैं। फिर हवा के ज़रिए धन आवेश बादल के ऊपरी हिस्सों से निकल कर वायुमंडल की बहुत ऊंची परतों में बिखर जाते हैं। अब उन जगहों पर जहां मौसम साफ है यह धन आवेश 1800 एम्पियर धनात्मक करंट के रूप में धरती पर पहुंचता रहता है। पर धरती की सतह पर कुल आवेश तो ऋणात्मक है। 1800 एम्पियर का धनात्मक करंट अगर धरती तक लगातार पहुंचता रहे तो शीघ्र ही धरती की सतह को उदासीन (यानी आवेश रहित) हो जाना चाहिए। ऐसा इसलिए नहीं होता क्योंकि झंझावात के दौरान बादलों की निचली सतह पर एकत्रित होने वाला ऋण आवेश वज्रपात के रूप में धरती पर गिर जाता है। इस तरह वज्रपात धरती का कुल आवेश ऋणात्मक बनाए रखते हैं। आप शायद

. . . विद्युत विभव नापना

कई तरीके हैं जिनके द्वारा धरती से किसी भी ऊंचाई का वायुमंडलीय विभव मापा जा सकता है। एक तरीका तो यही है कि आप किसी इन्सुलेट्ड सुचालक को धरती से उस ऊंचाई पर किसी प्रकार टांग दें। हालांकि वायु की सुचालकता काफी कम होती है, पर उस सुचालक को अगर हम काफी लंबे अर्से तक टंगा रहने दें, तो धीरे-धीरे उस सुचालक की सतह पर आवेश जमा होने लगेगा। यह सिलसिला तब तक चलेगा जब तक उस सुचालक का विद्युत विभव उस ऊंचाई के वायुमंडलीय विद्युत विभव के बराबर नहीं हो जाता है। जब आप इस सुचालक को धरती पर उतारेंगे तो स्वाभाविक है कि उसका विद्युत विभव भी बदलेगा। विद्युत विभव के इस बदलाव को आप एक इलेक्ट्रोमीटर की मदद से नाप सकते हैं। चूंकि धरती का विद्युत विभव हम शून्य वोल्ट मान रहे हैं इसलिए मापी गई मात्रा उस ऊंचाई के वायुमंडलीय विद्युत विभव के बराबर ही होगी।

सोच रहे होंगे कि वायुमंडलीय करंट तो हर समय बहता रहता है, पर हम तो बिजली को साल भर में कुछ ही बार गिरता हुआ देखते हैं। पर ऐसा नहीं है। पूरी धरती को ध्यान में रख कर गणना की जाए तो मालूम पड़ता है कि एक दिन में करीब 40,000 झंझावात आते हैं, और एक सेकेण्ड में करीब सौ बार बिजली चमकती रहती है। यानी यह प्राकृतिक बैटरी भी हमेशा ही चालू रहती है।

अब बस एक आखिरी बात और। वैज्ञानिकों ने पाया है कि ऊंचाई के साथ विद्युत विभव बढ़ने की दर (जिसे हमने 100 वोल्ट/मीटर माना है) में दिन-भर में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं।

पर हैरत की बात यह है कि आप करंट का मापन धरती पर कहीं भी करें, हिंद महासागर में, अमेरिका में या एंटार्कटिका में, करंट अधिकतम और न्यूनतम तभी रहता है जब लंदन की घड़ियों में शाम को सात और सुबह के चार बज रहे होते हैं। यानी जब हमारी घड़ियों में दोपहर के डेढ़ और रात के साढ़े दस बज रहे होते हैं।

हमारे अजीबोगरीब वायुमंडल का यह एक और अनूठा पहलू है। ऐसा क्यों होता है यह मुझे नहीं मालूम, अगर आपको मालूम हो तो ज़रूर बताइएगा।

अजय शर्मा — एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में कार्यरत।

सवाल, जवाब और सवाल

कैसे पढ़ाया और कैसे सुधारा — एक अध्यापक की कोशिश

जगह: प्राथमिक शाला, हरदा खुर्द, हरदा, ज़िला होशंगाबाद; कक्षा: चौथी एवं पांचवीं; बच्चों की संख्या: 52; दिनांक: 12 जुलाई 96, गणित शिक्षण

गतिविधि - कार्ड और कंकड़

सभी बच्चों से कहा कि ब्लैक बोर्ड की ओर देखो और पढ़ो।

सवाल करके दिखाने वाले बच्चों की संख्या बहुत कम थी। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि हो सकता है कि बच्चों को:

- मेरी बात समझ में नहीं आई।
- श्यामपट पर लिखा हुआ समझ में नहीं आया।
- बच्चों ने निर्देशों पर ध्यान नहीं दिया।
- या फिर, उन्होंने काम करने में रुचि नहीं ली।

थोड़ी देर सोचने के बाद मैंने बच्चों से कहा कि बाहर से 20-20 कंकड़ इकट्ठे करके लाओ। जब तक बच्चे कंकड़ बीनकर लाते मैंने एक से नौ तक के 104 अंक-कार्ड फर्श पर फैलाकर रख दिए।

बच्चों ने पूछा, "कंकड़ का क्या करें?" मैंने कहा, "उन्हें अपनी जगह पर रख दो और यहां से दो-दो अंक कार्ड उठाकर ले जाओ। लेकिन ध्यान रखना कि दोनों कार्ड एक जैसे न हों।"

बच्चों ने वैसा ही किया और पूछा, "अब क्या करें?"

मैंने कहा, "अब जो अंक कार्ड, तुम्हारे पास हैं, उनकी बिंदियों पर कंकड़ रखो।" सभी ऐसा करने लगे।

कुछ पल बाद मैंने कहा, "एक कार्ड के ऊपर के कंकड़ गिनकर उठाओ और कार्ड को पलटो, जितने कंकड़ तुमने गिने हैं वह संख्या अंक कार्ड पर पीछे छपी है।"

"हां, छपा है।" बच्चों की आवाज़ आई।

"इसी तरह दूसरे कार्ड के कंकड़ भी गिनकर कार्ड को पीछे पलटा कर देखो।"

अब दोनों कार्ड के कंकड़ मिलाकर उन्हें गिनो और स्लेट पर लिखो।

थोड़ी देर बाद मैंने उन्हें खुद यह गतिविधि करके दिखाई – पहले एक अंक कार्ड चुना, कार्ड पर बने बिन्दुओं पर कंकड़ रखे, उन्हें गिना– एक, दो, तीन, चार, पांच। अब कार्ड को पलटा। पीछे अंक 5 छपा था। ब्लैक बोर्ड पर 5 लिख दिया।

इसी तरह मैंने दूसरा कार्ड चुना और बिन्दुओं पर कंकड़ रख कर गिना – संख्या आई 7; मैंने ब्लैक बोर्ड पर सात को पांच के नीचे लिख दिया। धन का निशान लगाया और रेखा खींची।

$$\begin{array}{r} 5 \\ +\ 7 \\ \hline \end{array}$$

इन कदमों के बाद दोनों कार्ड (जिनके कंकड़ मैंने गिने थे) के कंकड़ एक जगह रख कर उन्हें फिर से गिना। बच्चे देख-देखकर साथ ही साथ दोहरा भी रहे थे।

इतना सब करने के बाद मैंने बच्चों से पूछा, "पांच और सात कितने हुए।" जवाब आया, 12 हुए।

ब्लैक बोर्ड पर पांच और सात के नीचे मैंने 12 को इस तरह लिख दिया।

$$\begin{array}{r} 5 \\ +\ 7 \\ \hline 12 \end{array}$$

अब बच्चों से कहा:

तुम सब इसी तरह दो अंक कार्ड चुनो, बिन्दियों पर कंकड़ रखो, कंकड़ों को गिनो, कार्ड को पलटो, जितना अंक कार्ड पर छपा है उतने

कंकड़ हैं या नहीं देखो, और स्लेट पर अंक लिखो; कुल कितना हुआ यह भी लिखो।

जब काम खत्म हो जाए, पहले वाले अंक कार्ड वापस रखकर दूसरे अंक कार्ड ले जाओ।

कम से कम 10 सवाल हरेक को करना है।

कुछ देर बाद मैं कक्षा में घूमा, बच्चों के सवाल देखे और बातचीत की। बच्चों ने इस प्रकार सवाल किए।

1	3	2	1
+ 2	+ 1	+ 3	+ 4
3	4	5	5
1	4	6	7
+ 7	+ 5	+ 3	+ 2
8	9	9	9
7	4	9	5
+ 4	+ 7	+ 2	+ 7
11	11	11	12
7	9	6	9
+ 8	+ 6	+ 9	+ 8
15	15	15	17

इस पूरी गतिविधि को करवाकर मुझे लगा कि बच्चों ने ये सब बात सीखी हैं:

– सवाल किस तरह बनाए जाते हैं,
– बिना हासिल के जोड़ते कैसे हैं,
– दो संख्याओं को जोड़ो तो कितना होता है,
– बड़ी संख्या और छोटी संख्या क्या है,
– कम क्या, ज़्यादा क्या,
– 1 से 9 तक गिनना, मिलाना,
– 1 से 9 तक की अंक पहचान, आदि अधिकांश बच्चों को आ गया है।

इस पूरी गतिविधि के बाद मैंने ब्लैक बोर्ड पर लिखा।

1 से 9 तक के अंकों में से दो अंक चुनकर संख्या बनाओ। संख्या को पलटो। दोनों संख्याओं को जोड़ो, जोड़ कितना हूआ बताओ।

लिखा हुआ एक बार बच्चों को पढ़ कर सुनाया और बैठ गया।

बच्चे सवाल करने में जुट गए। कुछ देर बाद एक-एक बच्चे के पास जाकर देखा कि उन्होंने क्या किया है।

अधिकांश बच्चों ने 12, 13, 14, 15, 17, 18, 23, 24, 25, 26, 27, 35, 36, 43, 45 आदि संख्याओं को पलटकर उनका जोड़ सही किया था। वहीं 19, 28, 37, 38, 39, 46, 47, 48, 49, 56, 58, 59, 67, 69, 78, 79, 89 आदि

संख्याओं को पलटकर उनका जोड़ अधिकांश ने गलत किया था। गलत करने वाले बच्चों ने इस तरह सवाल हल किए:

19	65	93	85
+ 11	+ 56	+ 39	+ 58
1010	1111	1212	1313
95	78	97	98
+ 59	+ 87	+ 79	+ 89
1414	1515	1616	1717

इतना सब कुछ करने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि 40 प्रतिशत बच्चों को हासिल के जोड़ की तकनीक मालूम है और 60 प्रतिशत बच्चों को हासिल के जोड़ की तकनीक मालूम ही नही हैं।

गतिविधि-2: हासिल वाले जोड़

बच्चों में से पांच टोलियां बनानी थीं। मैंने बच्चों से कहा कि कोई भी एक अंक का कार्ड लेकर बाहर जाओ। बच्चों ने पूछा कि अंक कार्ड का क्या करें। मैंने कहा कि जिनके पास एक जैसे कार्ड होंगे वे सब एक टोली में होंगे। ये टोलियां कमरे में गोला बनाकर बैठेंगी। इसके अलावा इस गतिविधि के लिए बच्चों को 20-20 कंकड़ बीनकर लाना था।

टोलियों के बैठने के बाद उनसे कार्ड वापस ले लिए। और हर टोली को एक से नौ तक के अंक कार्ड का एक-एक सेट दे दिया।

शुरू में टोली के किसी एक बच्चे को इस सेट में से दो कार्ड चुनने थे और उनसे संख्या बनानी थी। मैंने उनसे बारी-बारी संख्या पूछी और उन्हें ब्लैक बोर्ड पर लिख दिया:

टोली क्र.	तुम्हारी बताई संख्या
1	89
2	19
3	37
4	48
5	56

लिखने के बाद बच्चों से कहा कि अपनी-अपनी टोली की संख्या को पलटो और उनसे पूछकर इन नई संख्याओं को भी ब्लैक बोर्ड पर लिख दिया:

टोली क्रमांक	तुम्हारी बनाई संख्या	पल्टी गई संख्या
1.	89	98
2.	19	91
3.	37	73
4.	48	84
5.	56	65

पहली टोली की संख्या को उलट-पुलट करने से जो सवाल बना उसे मैंने इस तरह जोड़ा:

89
+ 98
1717

जोड़ किया ही था कि हासिल के जोड़ का तरीका जानने वाले बच्चे चिल्लाए, "सर, गलत है। सर, गलत है।"

मैंने पूछा, "इस सवाल में गलती कहां है? तुम में से कोई एक आए और बताए।"

मुकेश आया और बोला, "सर, आपने 17 में से इकाई के 1 को दहाई में नहीं मिलाया।"

मैंने कहा, "कैसे, करके दिखाओ।"

मुकेश ब्लैक बोर्ड के पास गया और 17 इकाई का 1 मिटाया और 8 के ऊपर लिखा, और 17 दहाई का 7 मिटाया और 8 लिखा – इस तरह:

1
8 9
9 8
18 7

कई तरीके गिनने के

मैंने मुकेश से पूछा, "तुमने गिनने का काम कैसे किया?"

वह बोला, "9 इकाई से आगे (हाथ की अंगुलियों के निशान दिखाते हुए) गिना –

10, 11, 12, 13, 14, 15, 16, 17."

मैंने पूछा, "तुम्हें कैसे मालूम कि तीसरी अंगुली के इस निशान तक गिनना है।"

वो बोला कि हर अंगुली में तीन निशान हैं तो दो अंगुली में 6 निशान और तीसरी अंगुली में 2 निशान तक गिना। इसके बाद दहाई जोड़ने के लिए एक और जोड़ा।

अब मैंने बाकी बच्चों से पूछा कि क्या कोई दूसरा तरीका है, जिससे जोड़ का यह सवाल हल कर सकें?
"हां है।" बच्चों की आवाज़ आई।

आगे आकर समझाने के लिए कहने पर मोहन आया और बोला,

"9 में 8 का 1 मिलाया तो 10 हुए। 8 के अब 7 बचे तो 10 और 7 हुए 17। अब हासिल का 1, 8 में मिलाया तो हुए 9 और 9 में जोड़ा तो 18 हुए। इस तरह उत्तर 187 हुआ।"

मोहन ने मौखिक रूप से जो सवाल किया वो शायद इस तरह से था।

सवाल	मोहन का तरीका	
89	9 + 1 = 10	इकाई का जोड़
+98	8 − 1 = 7	10 + 7 = 17
	1 + 8 = 9	
187	9 + 9 = 18	दहाई का जोड़

मैंने पूछा, "बच्चो तुम गिनने का काम किन-किन चीज़ों से करते हो

बताओ?" बच्चों का जवाब था:

रेखा — अंगुलियों से,
हितेष —अंगुलियों के निशानों से,
गोपाल — रेखा (लाइन) खींचकर,
अनिल — कंकड़ से,
सुनिता — कोई भी वस्तु से,
गोविन्द — 5, 10, 15, 20, 50, 100 के समूहों में गिन कर।

पहले की तरह इस बार भी बच्चों मे 10-10 सवाल करने को कहा।

बच्चे सवाल करने में जुट गए। कुछ देर बाद मैंने कक्षा में घूमना शुरू किया और हर बच्चे के पास गया बच्चों ने इस तरह से सवाल किए थे:

21	31	41	61
+ 12	+ 13	+ 14	+ 16
33	44	55	77
52	62	91	82
+ 25	+ 26	+ 19	+ 28
77	88	110	110
85	76	86	87
+ 58	+ 67	+ 68	+ 78
143	143	154	165

मुझे गलत सिद्ध करा

मैंने बच्चों से कहा, "जो सवाल तुमने किया है उसकी ऊपर की संख्या नीचे और नीचे की संख्या को ऊपर रखकर जोड़ो। जांच करो कि अभी जो उत्तर आया है, क्या ऊपर की संख्या को नीचे लिखने से और नीचे की संख्या को ऊपर करने से भी वही आएगा?

मेरा दावा है कि यही उत्तर आएगा। और मेरे दावे को गलत सिद्ध करने के लिए संख्या को नीचे-ऊपर करके जोड़कर देखो। यदि यह उत्तर नहीं आए तो मुझे बताओ?"

आख़िरी में जब इन दोनों गतिविधियों का विश्लेषण किया तो मुझे समझ आया कि:

— बच्चे किस स्तर पर हैं।
— किस बच्चे ने कौन-सी क्षमता हासिल कर ली है।
— किस बच्चे को अभ्यास की ज़रूरत है, आदि।
— गणित अमूर्त संख्याओं का खेल है यह हमें समझना चाहिए।
— गणित सीखने की प्रक्रिया धीरे-धीरे अमूर्त अवधारणाओं की ओर बढ़ती है।
— गणित की अमूर्त अवधारणाओं तक पहुंचने के लिए बच्चों को ठोस वस्तुओं के साथ ठोस गतिविधियां करवाना आवश्यक है।

(लक्ष्मी नारायण चौधरी — होशंगाबाद जिले की हरदा तहसील की हरदा खुर्द प्राथमिक शाला में शिक्षक हैं।)

चौधरी जी बताएं

क्या चौथी, पांचवीं कक्षा में अंक पहचानना व गिनना, बड़ी छोटी संख्या, कम ज़्यादा व साधारण जोड़ आदि क्षमताओं का विकास पाठ्यक्रम का हिस्सा है? या आप इस लेख में क्षमताएं गिनाने की परिपाटी में गणित का सारा पाठ्यक्रम यूं ही दोहरा रहे हैं। 60 प्रतिशत बच्चे हासिल के जोड़ में कमज़ोर हैं यह जान लेने के बाद आप सीधे ही 89 का सवाल श्याम पट पर लिख कर आगे की चर्चा शुरू कर सकते थे। आपने दूसरी गतिविधि का लंबा चौड़ा सिलसिला क्यों चलाया? — अंक कार्ड बांट कर टोलियां बनवाना, कंकड़ बिनवाना, फिर अंक कार्डों से संख्या दुबारा से बनाना व श्याम पट पर लिखवाना.......?

क्या इसमें समय नष्ट नहीं हुआ?

बहरहाल बच्चों से सवाल बनवाने का प्रयास करना, बच्चों को लंबे निर्देश सुन-समझ कर कार्य करने का अभ्यास देना और बच्चों की विभिन्न विधियों को सम्मान देने का प्रयास जो चौधरीजी की कक्षा में दिखता है, बहुत ज़बरदस्त है ही।

चौधरी जी से आप भी सवाल पूछ सकते हैं व उनकी कक्षा के बारे में सुझाव दे सकते हैं। लिखिए संदर्भ को।

संदर्भ आमंत्रित करती है — वास्तविक कक्षा अनुभवों पर लेख जो बच्चों को सिखाने के आपके संघर्षों को औरों तक पहुंचाएं। औरों की प्रतिक्रियाएं भी आप तक पहुंचाएगी संदर्भ।
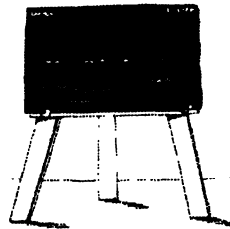
ज़रा सिर तो खुजलाइए

पिछली बार हमने आपसे सवाल पूछा था कि कई घरों में सीढ़ियों पर लगा हुआ बल्ब दो स्विच से जुड़ा होता है – एक स्विच सीढ़ी के ऊपर और दूसरा सीढ़ी के नीचे। दोनों में से किसी भी स्विच से सीढ़ी पर लगा बल्ब जलाया या बुझाया जा सकता है। हमने आपसे इस युक्ति के लिए परिपथ मांगा था और कहा था कि यदि आपको दो स्विच वाला सवाल आसान लग रहा हो तो आप इस बात पर भी विचार कर सकते हैं कि क्या ऐसा परिपथ तीन स्विच को लेकर भी बनाया जा सकता है?

जवाब जानने से पहले आइए उज्जैन के कृपाशंकर सक्सेना का खत पढ़ लेते हैं।

"अंक 11 में 'ज़रा सिर तो खुजलाइए' पढ़ा। उसमें वास्तव में सर खुजलाना पड़ रहा है। जीने की वायरिंग के लिए जो स्विच प्रयुक्त होते हैं उनका तकनीकी नाम 'टू वे स्विच' है। और अधिक स्थान से बल्ब को जलाने के लिए जो स्विच प्रयुक्त किए जाते हैं उन्हें 'थ्री वे स्विच' कहा जाता है। इसी तरह 'फोर वे' भी होते हैं।

मेरे बताए स्विच तथा सीढ़ी से कंट्रोल के चित्र मैं थोड़े समय में भेज रहा हूं। क्या आप साधारण स्विच से बल्ब को कंट्रोल करने का डायाग्राम बताएंगे?"

तो मामला 'टू वे स्विच' और 'साधारण स्विच' के बीच कहीं अटक रहा है। हमारे पास जितने भी खत आए हैं और व्यक्तिगत रूप से मिलने पर भी सबने यही कहा कि 'टू वे स्विच' से तो ऐसा परिपथ आसानी से बन जाएगा पर 'साधारण स्विच' से बिल्कुल भी नहीं। आप सबकी बात सही भी है और गलत भी। पर यह सही है कि आपको गलत साबित करने के लिए थोड़ी जालसाज़ी करनी पड़ेगी। इसलिए उसकी बात अंत में करेंगे।

खैर, आइए अब जवाब की ओर बढ़ते हैं। इतना तो साफ है कि ये सीढ़ियों वाले स्विच आम स्विच से थोड़े अलग होते हैं। इस स्विच को 'टू वे स्विच' कहते हैं। सबसे पहले यही देखें कि साधारण स्विच और इनमें आखिर फर्क क्या है।

किसी बिजली का सामान बेचने वाली दुकान में जाकर दुकानदार से कहिए कि आपको एक 'साधारण स्विच' और एक 'टू वे स्विच' दिखाए। ऊपर से देखने पर भी दोनों स्विच में थोड़ा-सा अंतर नज़र आता है। 'साधारण स्विच' पर

साधारण स्विच टू वे स्विच
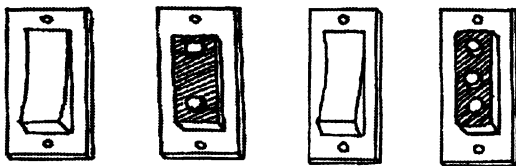
चित्र-1 : साधारण और टू वे स्विच

'ऑन-ऑफ' लिखा होता है या कुछ पर कुछ भी नहीं लिखा होता। जबकि 'टू वे स्विच' पर आमतौर पर दोनों तरफ लाल बिन्दु बने होते हैं। अब दोनों स्विच पलटकर देखिए। आपको 'साधारण स्विच' में दो पिन दिखेंगी परन्तु 'टू वे स्विच' में तीन पिन दिखेंगी।

साधारण स्विच को जब ऑन स्थिति में रखते हैं तो परिपथ बना रहता है और ऑफ स्थिति में परिपथ टूट जाता है। इस मामले में 'टू वे स्विच' थोड़े अलग होते हैं। आगे की बात सीधे मीढ़ियों पर आकर ही समझते हैं।

सबसे पहले दो 'टू वे स्विच' लेते हैं। स्विच S_1 सीढ़ियों पर नीचे लगाया है और स्विच S_2 सीढ़ियों के ऊपर लगाया गया है। और जीने में एक बल्ब लगा है जिसे हम दोनों स्विच से जलाना-बुझाना चाहते हैं।

इस परिपथ में 'टू वे स्विच' का पीछे वाला हिस्सा दिखाया गया है जहां तीन पिन दिखती हैं। जैसा कि परिपथ से साफ दिख रहा है, घरेलू वायरिंग में से एक तार सीधे ही बल्ब से जोड़ दिया गया है। बल्ब का दूसरा तार सीढ़ी के ऊपर लगाए स्विच S_2 की बीच वाली पिन में कसा गया है।

घरेलू वायरिंग से आ रहा दूसरा तार सीढ़ी के नीचे लगे स्विच S_1 की बीच वाली पिन में कसा गया है। दोनों स्विच S_1 और S_2 की बाकी पिन जोड़ते हुए दो समानांतर तार लगा दिए गए हैं।

अब चित्र के सहारे समझने की कोशिश करते हैं कि बल्ब कब जलेगा और कब बुझेगा। चित्र-3 और चित्र-4 में दर्शाई गई स्थितियों में तो बल्ब जलेगा क्योंकि पहली स्थिति में ऊपर के तार P_1 से परिपथ पूरा हो रहा है और दूसरी स्थिति में नीचे के

चित्र:2 टू वे स्विच का परिपथ
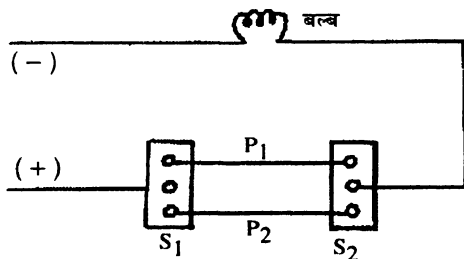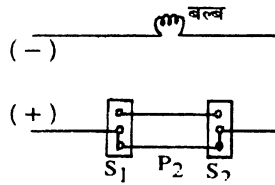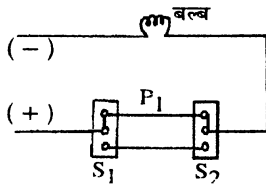
चित्र-3 और 4: इन दोनों परिपथों में बल्ब जलेगा क्योंकि परिपथ तार P_1 और P_2 में पूरा हो रहा है।

चित्र-5 और 6: इन दोनों परिपथ में बल्ब नहीं जलेगा क्योंकि परिपथ P_1 या P_2 से पूरा नहीं हो पा रहा है।
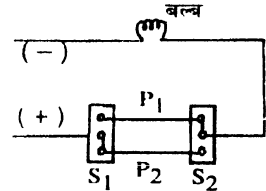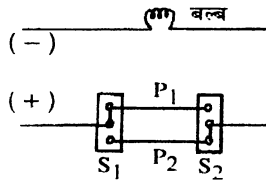
तार P_2 के ज़रिए।

चित्र-5 और चित्र-6 में दर्शाई गई स्थितियों में बल्ब नहीं जलेगा क्योंकि दोनों ही स्थितियों में परिपथ पूरा नहीं हो रहा है। लेकिन इस स्थिति में किसी भी स्विच का खटका ऊपर-नीचे कर देने पर परिपथ पूरा हो जाएगा परिपथ-3 या परिपथ-4 जैसी स्थिति बन जाएगी। और फिर से स्विच S_1 या स्विच S_2 के खटके को ऊपर या नीचे चलाया जाए तो परिपथ 5 या 6 जैसी स्थिति बन जाएगी यानी बल्ब बुझ जाएगा।

अब हम शुरूआती मुद्दे पर लौट आते हैं कि क्या इस तरह का परिपथ साधारण 'ऑन-ऑफ' वाले स्विच से भी बनाया जा सकता है। ऐसे दो स्विच से नहीं लेकिन चार स्विच से ज़रूर बनाया जा सकता है। बस, जालसाज़ी यहीं है कि आप दो-दो साधारण स्विच को आपस में ऐसे जोड़ते हैं कि वे 'टू वे स्विच' जैसा काम देने लगें। काम बहुत मुश्किल नहीं है पर थोड़ा सोच-समझकर करना पड़ेगा। दो 'साधारण स्विच' एक दूसरे से सटाकर लगा लीजिए लेकिन इस तरह कि एक नीचे की ओर ऑन होता हो तो दूसरा ऊपर की तरफ ऑन होता हो – जैसा कि चित्र-7 में दिखाया गया है। अब ऐसी स्थिति में दोनों स्विच के नीचे की तरफ की पिन के बीच एक तार कस दीजिए। यह तो हो गई हमारे 'टू

*** घरेलू वायरिंग का इस्तेमाल करते हुए ऐसा परिपथ बनाते समय यह सावधानी रखना अत्यंत जरूरी है कि फेज़ और न्यूट्रल का ध्यान रखा जाए। फेज़ और न्यूट्रल की पहचान टेस्टर की मदद से की जा सकती है। फेज़ वाले तार को टेस्टर से छूने पर टेस्टर का बल्ब जल उठेगा। न्यूट्रल वाले तार के साथ ऐसा नहीं होता।**
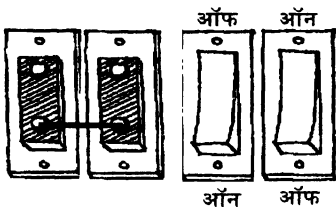
चित्र-7: दो साधारण स्विच पास-पास इस तरह सटाकर रखते हैं कि एक स्विच का ऑन दूसरे स्विच के ऑफ के सामने आए। अब दोनों स्विच की आमने-सामने की एक-एक पिन को तार की मदद से आपस में जोड़ देते हैं।
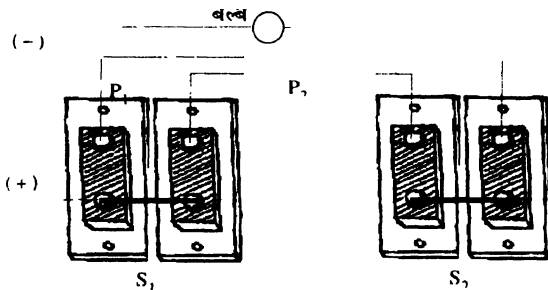
चित्र-8: दो-दो साधारण स्विच से बनाए गए 'टू वे स्विच' और उनके बीच का परिपथ। ध्यान इस बात का रखना है कि स्विच S_1 या S_2 के दोनों खटके एक साथ ऊपर या एक साथ नीचे करें।

वे स्विच' की बीच वाली पिन। चार साधारण स्विच से बनाए गए दो ऐसे स्विच सीढ़ी के दोनों तरफ लगा दीजिए और पहले की तरह इन दोनों के बीच परिपथ बना लीजिए। साधारण स्विच से भी आप वही काम ले पाएंगे जो आपने 'टू वे स्विच' से लिया था।

यदि दो साधारण स्विच मिलाकर टू वे स्विच बनाया है तो ध्यान रहे कि दोनों के खटके एक ही तरफ रहें — चाहें तो नीचे रहें या फिर ऊपर। अब आप ही सोचिए कि आपके द्वारा बनाए गए स्विच के दोनों खटकों में से अगर एक को ऊपर की तरफ रखा और दूसरे को नीचे की तरफ तो क्या गड़बड़ होगी?

इस बार के सही जवाब: रामकृष्ण सामेरिया, हरदा; कृपाशंकर सक्सेना, उज्जैन; डी. एन. पाटीदार, महेश्वर, ज़िला खरगोन; चम्पालाल कुशवाह, हिरणखेड़ा, ज़िला होशंगाबाद; आर. आर. चौधरी, शास. बा. उ. मा. शाला पचमढ़ी, ज़िला होशंगाबाद।

एक मौका और . . . . . पुरस्कार भी

बल्ब को तीन जगह से नियंत्रित कर पाने का एक ही सही जवाब आया है — वह भी विस्तृत नहीं। इसलिए हम इस सवाल को फिर से आपके सामने रख रहे हैं। अपेक्षा है कि अपना जवाब भेजते वक्त आप परिपथ बनाकर समझाएंगे कि ऐसा कैसे संभव हो पा रहा है। कोई भी स्विच आज़माने की छूट है इस बार।

हां एक और विशेष बात यह है कि प्रत्येक विस्तृत समझाकर जवाब देते हुए सही हल को उपहार स्वरूप एक अच्छी-सी किताब भेजी जाएगी।

इस बार का ज़रा सिर तो खुजलाइए पृष्ठ 14 पर

बच्चे नहीं

● दिशा नवानी

"कई शिक्षक बच्चों को नैतिक उपदेश देना अपना सबसे बड़ा कर्त्तव्य समझते हैं। बात-बात पर उन्हें टोकना, डराना-धमकाना या उनकी खिल्ली उड़ाना, उन्हें मानो उसमें मज़ा-सा आता है।"
दिल्ली के एक पब्लिक स्कूल से बच्चों के बीच बैठकर बटोरे अनुभवों का ब्यौरा।

पन्द्रह अप्रैल, 1996
समय 8:30 बजे प्रात:
कक्षा पांच का एक दृश्य

घंटी का बजना था कि बच्चों ने उछल-कूद शुरू कर दी। गणित की टीचर, जो कि पिछले आधे घंटे से ब्लैक बोर्ड पर सवाल कर रही थी, भी तुरन्त अपना बैग उठाकर कक्षा से बाहर चली गई।

"आय-हाय! हिन्दी की क्लास, अब मैडम एक घंटे तक हमें बोर करेंगी। आज तो उनके दो-दो पीरियड हैं।" सगल ने मुंह बनाकर कहा।

"लगता है, हमें सुधारने का पूरा ठेका इन्होंने ही ले रखा है।" अश्लेषा तुनककर बोली।

बच्चे गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने लगे। छोटे से कमरे में चालीस बच्चों ने भाग-भाग कर कुछ मिनटों में पूरी ज़मीन जैसे आसमान पर उठा ली। कुछ बच्चे 'रंगीला' फिल्म के 'आई-आई-ओ' गाने पर मटक-मटककर नाचने लगे।

इतने में हिन्दी की टीचर, सरला मैडम तेज़ रफ्तार से कक्षा में आईं और चारों ओर नज़र दौड़ाने लगी।

"शांत हो जाइए, आप सभी! ये कोई सब्ज़ी-मण्डी नहीं है जो आप लोग इतना चिल्ला रहे हैं। आप लोगों को लज्जा नहीं आती।"

"मनु और सांचल! आप लोग इतना बेहूदा नाच क्यों कर रहे हैं। न ही गाने में कोई धुन है, न ही नाचने में कोई लचक। बस कूद-कूदकर हाथ-पैर इधर-उधर मारने को नाच नहीं कहते। जाइए, सभी अपनी-अपनी जगहों पर बैठ जाइए। नाचने का इतना ही शौक है तो कत्थक या भरतनाट्यम जैसा कोई नृत्य सीखिए।" मैडम गुस्से में बोली।

मनु और सगल ने ऐसा मुंह बनाया मानो टीचर पागल हो गई हो फिर चुपचाप अपनी सीट पर बैठ गए। बाकी बच्चे अपनी हंसी को रोकने की कोशिश करने लगे क्योंकि मैडम का तो कोई भरोसा ही नहीं था, न जाने किस बात पर किसी पर बरसना शुरू हो जाएं।

"अपनी-अपनी पुस्तक खोलिए। आज हम 'मेरी अभिलाषा' कविता पढ़ेंगे। पहले आप लोग इस कविता को जल्दी से चुपचाप पढ़ लीजिए, फिर मैं इसकी व्याख्या करूंगी।"

बच्चों ने कविता पर सरसरी निगाह दौड़ाई।

"पढ़ ली आप लोगों ने?" मैडम ने ज़ोर से पूछा।

"ऊं-हूं! अब लाऊडस्पीकर शुरू हो गया। इसे बंद करना तो किसी के बस की बात नहीं है।" रोहन अपने साथी से बोला।

"हां तो बच्चों! इसमें कवि कहना चाहता है कि मैं जो भी बनूं, एक अच्छा इंसान बनूं। मैं सूरज-सा चमकूं, चंदा-सा दमकूं। इसका मतलब है कि सूरज व चांद की तरह मैं भी चमकूं। लेकिन कैसे? अच्छे कर्मों से, एक अच्छा इंसान बनकर, ताकि मेरी ख्याति भी दूर-दूर तक फैले।"
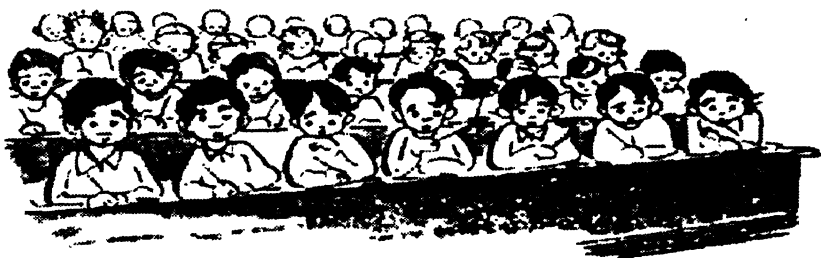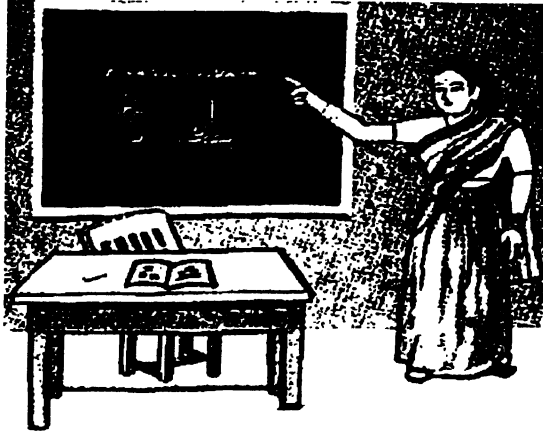
"लेकिन भगवान ने तो चांद और सूरज को वैसा ही बनाया है। भला, इसमें उन्होंने कौन-से अच्छे कर्म किए हैं।" सांचल बुदबुदाया।

"आपको कक्षा चार वाली कहानी याद है? कैसे एक साधू को एक बिच्छू बार-बार डंक मार रहा था लेकिन साधू उसे फिर भी डूबने से बचा रहा था। बताइए, वो ऐसा क्यों कर रहा था?"

"मैडम, क्योंकि वो एक अच्छा इंसान था।" आंचल अपनी आंखें मटकाते हुए बोली।

"ऊं! इस महारानी को तो जैसे सारे प्रश्नों का उत्तर पता है।" मनु चिढ़ाते हुए बोला।

"नहीं! क्योंकि साधू का कर्त्तव्य है बचाना और बिच्छू का कर्त्तव्य है डंक मारना। इसलिए, दोनों ही अपना कर्त्तव्य निभा रहे थे।" मैडम समझाते हुए बोली।

"लेकिन आप लोगों से तो कुछ भी बोलो, आप लोग लड़ने-मरने को तैयार हो जाते हैं। यहां तक कि आजकल के बच्चों को टीचर की बातें भी बेकार लगती हैं। टीचर आती है, आधे घंटे तक बक-बक करती है, आप लोगों के कानों में तो जूं तक नहीं रेंगती।"

"अब इन्हीं को देखिए। हां, आंचल और मनु आप दोनों आपस में क्यों लड़ रहे हैं?"

"मैडम, ये मुझे बिच्छू बोल रही है।"

"तो उसके कहने से आप बिच्छू बन गए क्या? पिछली कक्षा में तुमने कबीर का दोहा तो पढ़ा ही होगा जिसमें

उन्होंने कोयल और कौए की तुलना की है। कौआ किसी से कुछ नहीं लेता, कोयल किसी को कुछ नहीं देती, फिर भी कौए की तुलना में कोयल ही श्रेष्ठ मानी गई है। क्यों?''

''आंचल, इसका मतलब तुम्हीं बताओ।''

''मैम, इसका मतलब है कि कौआ और कोयल दोनों ही काले हैं लेकिन कोयल अपनी मीठी बोली के कारण सभी को अच्छी लगती है और कौआ किसी को भी नहीं।''

''हां! मतलब तो आपने सही बताया लेकिन खुद इस पर अमल नहीं कर पाईं।''

''लेकिन इसमें कौए की क्या गलती है, उसे तो भगवान ने वैसा ही बनाया है।'' सांचल हिम्मत जुटाते हुए ज़ोर से बोला।

मैडम ने उसे सुनकर भी अनसुना कर दिया।

''अब, चुप रह पागल! सारा समय बकवास करता रहता है।'' सगल उसका मज़ाक उड़ाते हुए बोला।

''हां, तो आप लोगों को अच्छा बनने के लिए क्या करना चाहिए?''

''मैम, हमें गरीबों की मदद करनी चाहिए। सब कुछ मिल-बांटकर खाना चाहिए।'' आंचल हाथ उठाते हुए बोली।

''मनु, तुम बोलो।''

''मैम, हमें किसी को धोखा नहीं देना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए।''

सभी बच्चों ने उत्तर देने के लिए बेताबी से हाथ उठा लिए। कुछ सीट पर ही उचक-उचककर मैडम का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश करने लगे।

''सभी बैठ जाइए। मैं बारी-बारी से सभी से पूछूंगी। आप बताओ अश्लेषा।''

''मैम, हमें मीठा बोलना चाहिए।''

''मीठा, और ये बोलेगी! आवाज़ तो इसकी फटे बांस जैसी है।'' ध्रुव बुदबुदाया।

''क्या है ध्रुव? तुम क्या बोल रहे हो।''

''कुछ नहीं मैम। यही, कि हमें किसी के बारे में बुरा नहीं सोचना व बोलना चाहिए।''
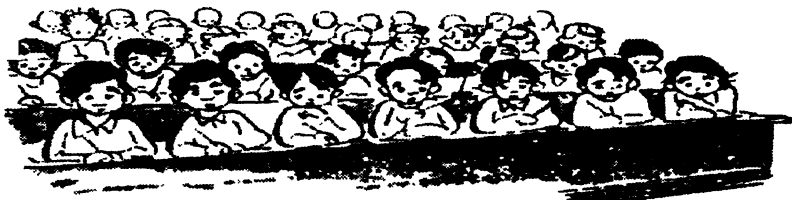
"शाबाश! अच्छा, अब आप लोग बताइए कि सुबह उठते ही आप लोग क्या करते हैं?"

"ब्रश, टॉयलेट — खीं—खीं।"

"नहीं! सुबह उठते ही आप सबसे पहले धरती पर पांव रखते हैं। ये इतने विशाल हृदय वाली है कि आप इस पर इतनी धमा-चौकड़ी मचाते हैं लेकिन फिर भी यह आपको कुछ नहीं कहती। यह कितनी सहनशील है। आपको भी इससे सीख लेनी चाहिए।"

"लेकिन इसमें धरती तो कुछ नहीं करती। उसे तो भगवान ने वैसे ही बनाया है।" सांचल फिर हकलाते-हकलाते बोला।

"अरे, चुप कर पागल! तेरी समझ में तो कोई बात आती ही नहीं।" सगल उसे डांटते हुए बोला।

"अच्छा अब आप लोग कुछ कठिन शब्दों के अर्थ लिख लीजिए। मैं उन्हें ब्लैक बोर्ड पर लिख रही हूं। दस मिनट बचे हैं, जल्दी से आप इन्हें अपनी-अपनी कॉपी पर उतार लीजिए।"

रोहन के पेन की स्याही खत्म हो गई और वह इधर-उधर ताकने लगा।

"मैम, देखो, रोहन क्या कर रहा है।" ध्रुव ने मैम को आवाज़ लगाई।

फुर्ती से मैडम रोहन के पास आई और बोली, "ओहो! कक्षा में आप एक पेन भी न ला सके। युद्ध में आए हैं और हथियार लाना भूल गए। मां-बाप के लाडले बेटे होंगे। रात को बारह बजे तक टी.वी. देखा होगा और बैग पैक करना भूल गए होंगे। जाओ, घर जाओ और हथियार लेकर आओ।" इतने में ही घंटी बज गई।

"भगवान, तेरा लाख-लाख शुक्र! ये बला तो कल तक के लिए टली।" रोहन अपनी किताब बंद करते हुए बोला।

"मैं जा रही हूं लेकिन मुझे स्कूल खत्म होने से पहले किसी भी हालत में आपकी कॉपियां चाहिए।"

"ओफ्फो। क्लास के बाद भी इन्हें चैन नहीं। आंचल, ज़रा थोड़ा-सा पानी तो दे।" मनु आंचल से बोला।

"जी नहीं। मैं क्यों दूं अपना पानी। नीचे से जाकर पी ले।" आंचल अपनी पानी की बोतल पकड़ते हुए बोली।

"वाह! कथनी और करनी में कितना फर्क है। क्लास में बड़ा भाषण दे रही थी — हमें गरीबों की मदद करनी चाहिए, इत्यादि-इत्यादि।"

"ठीक है। लेकिन तुझको पानी देने से मेरे परीक्षा में ज़्यादा नंबर तो आएंगे नहीं। तो मैं तुझे अपना पानी क्यों दूं।"

इतने में मनु और सगल की आपस में हाथा-पाई होने लगी।

"मनु के बच्चे! मैंने तुझे असली टिकट दिए और तूने मुझे नकली।" सगल

रोता हुआ मनु पर चिल्लाया।

"तो इसमें मेरी क्या गलती। सारी दुनिया ऐसा ही करती है। जब तुझे असली और नकली टिकट में अंतर ही नहीं पता तो इसमें मेरी क्या गलती।" मनु सगल से अपनी कमीज़ छुड़ाता हुआ बोला।

"अरे बेवकूफो, इससे पहले कि अंग्रेज़ी की मैडम भी हमें आकर डांटे, चुप हो जाने में ही हमारी भलाई है।" रोहन उन दोनों को छुड़ाता हुआ बोला।

"बच्चों, बी क्वाइट! क्या यही तमीज़ आपके मां-बाप ने आपको सिखाई है।" टीचर कक्षा में प्रवेश करते ही बरस पड़ी।

"हे भगवान! फिर एक और लेक्चर . . ."

इस लेख के माध्यम से मैंने दिल्ली के एक पब्लिक स्कूल की कक्षा पांच के साथ अपने अनुभव को दर्शाने की कोशिश की है। मैं पिछले एक महीने से उस स्कूल में अपने शोध कार्य के सिलसिले में जा रही हूं। बच्चों ने कुछ दिनों की हिचक के बाद मुझे अपना साथी मान लिया। उन्हें लगा कि मैं हल्ला मचाने या उछल-कूद से उन्हें रोकती नहीं हूं या टीचर की आलोचना करने पर डांटती नहीं हूं तो वे मुझे अपने में से ही एक मानने लगे।

मुझे लगा कि कई शिक्षक बच्चों को नैतिक उपदेश देना अपना सबसे बड़ा कर्त्तव्य समझते हैं। बात-बात पर उन्हें टोकना, डराना-धमकाना या उनकी खिल्ली उड़ाना, उन्हें मानो उसमें मज़ा-सा आता है। ऐसी स्थितियों में शिक्षकों व बच्चों के बीच का 'पॉवर इक्वेशन' बड़े स्पष्ट रूप से नज़र आता है। वही घिसे-पिटे उदाहरण देकर बच्चों को एक 'आदर्श इंसान' बनाने की अपनी कोशिश से वे बाज़ नहीं आते। बच्चे उन उदाहरणों या तुलनाओं को किस प्रकार देखते व समझते हैं, उससे उन्हें कोई मतलब नहीं। यदि सदियों से कोयल अपनी मीठी वाणी के कारण कौए से अच्छी मानी गई है तो हमें भी कोयल की तरह ही होना चाहिए। बच्चे का प्रश्न कि "इसमें कौए की क्या गलती, उसे तो भगवान ने वैसा ही बनाया है" या तो शिक्षकों की समझ से बाहर है; या फिर वे बच्चों की आंखों से देखने का प्रयास ही नहीं करना चाहते। बिच्छू का साधू को बार-बार डंक मारना व साधू का उसे बचाना, बच्चों को क्या, हमें भी आज के दौर में कुछ अटपटा-सा लगता है। बच्चों ने भी ऐसी स्थिति से निपटने के लिए कुछ तरीके अपना लिए हैं। शिक्षकों के सामने या तो चुप बैठे रहो या

फिर जो उन्हें पसंद है वही उत्तर दो। शिक्षक को खुश करना व परीक्षा में नंबर लाना ही जब इतना ज़रूरी है तो क्यों न अपने विचारों व उत्तरों को उसी दिशा में मोड़ा जाए। वे टीचर के दिए गए उपदेशों को एक कान से सुनकर दूसरे से निकालकर, अन्य परिस्थितियों में मनमानी करते हैं। बाकि बच्चे जो अपने विचार शिक्षक के सामने रखने की हिम्मत करते हैं वे या तो शिक्षक की डांट खाते हैं, या नज़रअंदाज़ किए जाते हैं व साथ ही अपने साथियों की खिल्ली के पात्र भी बनते हैं।

शिक्षकों का बात-बात पर बच्चों को डांटना-फटकारना व नैतिक उपदेश देना किस हद तक सफल होता है यह तो हम सब जानते ही हैं लेकिन क्या हम कभी इस बेमानी परंपरा को तोड़ने का प्रयास करते हैं?

दिशा नवानी - दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में शोधकर्ता
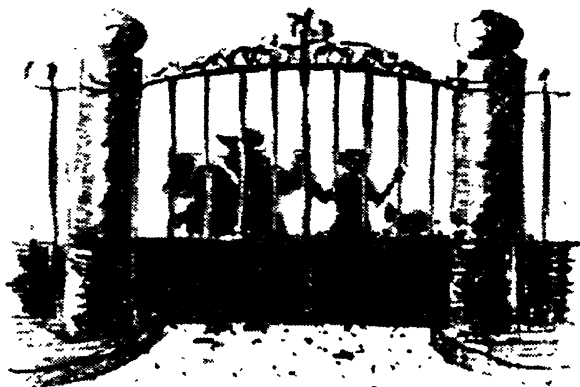
“मुझे भी अच्छा लगा”

जानकी अय्यर

कभी-कभी नहीं बल्कि अक्सर पाठशाला से मैं दिल में न समाएं इतनी खुशियां लिए लौटती हूं। उस दिन की घटना बार-बार याद करके दिल आनन्द के सागर में डुबकियां लेता रहता है।

आज मंजुला और जया के साथ गणित के इकाई-दहाई-सैंकड़े पर काम चल रहा था। जया अभी नई आई है। बहुत लगन से सीखती है। मंजुला काफी समय से सीख रही है लेकिन घर के बदहालातों की वजह से पिछले कुछ महीनों में ठीक से स्कूल नहीं आ पा रही थी। इससे उसके सीखने पर काफी असर पड़ रहा था।

दोनों को सीखने में मदद हो इसलिए मैं मोती की लड़ियों (हर लड़ी में दस मोती पिरोए थे) और मोतियों के सहारे संख्याएं सिखाने की कोशिश में जुटी थी। मंजुला यह सब काफी पहले सीख चुकी थी, लेकिन ठीक से नहीं बता पा रही थी। मैं पूछती, “छह लड़ियों में कितने मोती?” तो वो कहती, “सत्तर।” मैं उसे मदद करते, पूछते, कहलवाते शायद थकने लगी थी और शायद थोड़ी परेशान भी हो रही थी। इतने में जया बोली, “दीदी, मंजुला को ये सब आता है। उसे तो ये सब मालूम है। वो सिर्फ हड़बड़ाहट की वजह से ठीक से नहीं बता पा रही है।”

जया की यह संवेदनशील, सहानुभूतिपूर्ण और स्पष्ट अभिव्यक्ति लाजवाब थी। उसके ऐसा कहने का मंजुला पर बहुत अच्छा असर हुआ। उसका ढाढस तो बंधा ही, साथ में मेरा भी। फिर, एक-दूसरे के लिए और ज़्यादा प्यार लिए हम फिर से काम में जुट गए।

जानकी अय्यर एक विचारशील शिक्षिका हैं। 1989 में उन्होंने ‘आनन्द भारती’ की शुरूआत की। ‘आनन्द भारती’ एक पाठशाला है। हैदराबाद शहर में लोगों के घर में चौका बर्तन करने वाली लड़कियां इस पाठशाला में दोपहर दो बजे से पांच बजे तक पढ़ती हैं। इन लड़कियों के कठिन जीवन में सिर्फ ये ही तीन घण्टे हैं जिन्हें वे अपने खुद के लिए जीती हैं। इनके लिए आनन्द भारती पाठशाला तो है ही और भी साथ में बहुत कुछ है।

आपसी बातचीत के आधार पर इस वाकए को लिखा है **ऊषा राव** ने।

रुडयार्ड किपलिंग

अनुवाद: स्मिता अग्रवाल

प्रिय बरखुरदार,

माउंट स्टीफन हाउस
फील्ड, बी. सी. कनाडा
अक्टूबर 12, 1907

प्रिय बरखुरदार – मेरे काबिल बेटे – ओ जॉन, वगैरह,

हम इस जगह कल रात पहुंचे और स्कूल से आया हुआ तुम्हारा पहला खत इंतज़ार करता हुआ मिला। अब तुम सोच सकते हो कितनी खुशी हुई हमें उसे पाकर और कैसे हमने उसे बार-बार पढ़ा।

मुझे यह जान कर बहुत अच्छा लग रहा है कि तुम्हें स्कूल पसंद आ रहा है – और जैसे-जैसे वक्त के गुज़रते तुम वहां जमने लगोगे और तुम्हारे दोस्त बनेंगे, वैसे-वैसे तुम्हें और भी अच्छा लगेगा। मुझे मालूम है कि शुरू-शुरू में घर की कितनी याद आती है। अब याद आता है कि मुझे कैसा लगा था जब मैं पहली बार 'वेस्टवर्ड हो' में स्कूल गया था। पर मेरा स्कूल मेरे घर से दो सौ मील दूर था – मां और बाबा इंडिया में थे और मुझे पता था मैं उनसे सालों-साल नहीं मिल पाऊंगा। स्कूल में 200 बच्चे थे, बारह से अठारह साल के बीच की हर उम्र के। मैं तकरीबन सब से छोटा था, और खाना तो ऐसा मिलता था कि उफ्.....।

पर तुम तो घर से 30 मील दूर भी नहीं हो – और ना ही तुम वहां सबसे छोटे हो – और तुम्हारी तो वहां वो देखभाल होती है जैसी कि हमारे ज़माने में किसी ने सपने में भी नहीं सोची थी। तुम तो माशाअल्लाह उसी

गांव में रहे हो, वहां तुम पैदा हुए थे, चारों तरफ वे सब लोग हैं जिन्हें तुम ज़िन्दगी भर से जानते हो — जॉर्ज, मौसी तो अगले मोड़ पर ही रहती हैं। और मुझे याद आया — आज के दिन तुम्हें बर्ड और मिस ब्लेकी से मिलना चाहिए।

हम दोनों ने आज सुबह तार भेजा तुम्हें बताने के लिए कि हम दोनों तुम्हारे बारे में सोच रहे थे। जहां तुम हो और जहां हम हैं इन दोनों जगह के बीच समय में आठ घण्टे का फर्क है, और क्योंकि तुम बहुत पूर्व की तरफ हो इसलिए तुमने जब सूरज को उगते देखा होगा तब हमारी तरफ की दुनिया अंधेरे में ही थी। इसका मतलब है कि हालांकि मैंने तार सुबह आठ बजे भेजा था पर तुम्हें वो शाम को चाय के वक्त तक ही मिल पाएगा।

मुझे एक बात की वाकई बहुत खुशी है। तुम जानते हो जब भी तुम कोई ऐसा काम करते हो जो मुझे पसन्द नहीं तो मैं तुम पर बरसने से नहीं चूकता। इसी तरह जब तुम अच्छी तरह पेश आते हो तो अक्सर मैं तुम्हें यह बात भी ज़ाहिर कर देता हूं। जहां तक मुझे पता चला है कि जब तुम्हें घर की बहुत ज़्यादा याद आ रही थी, उस दौरान भी तुमने मुंह लटकाकर टसुए नहीं बहाए बल्कि सब्र के साथ रहे। बहुत बड़ी बात है बेटे! अगली बार तुम्हें खुद को बस में करने में और भी आसानी होगी, और उससे अगली बार और भी ज़्यादा।

अब आई हमारे कारनामों की बात! मैंने उनके बारे में एक लम्बा चिट्ठा लिख कर बैटमैन को भेजा है। पर मैं सफाई से नहीं लिख सका क्योंकि ट्रेन हिचकोले पर हिचकोले खा रही थी। सच में वो खत इस कदर घसीटे में लिखे गए हैं कि मैं उन्हें खुद नहीं पढ़ पा रहा था। तुम मिस ब्लेकी से कहना कि वो
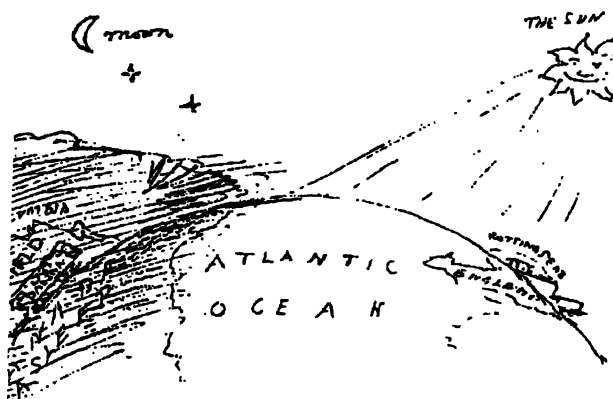
ASK MR LAING THE EXPLANATION OF THIS.

उन्हें तुम्हारे लिए सफाई से लिख दें। कुछ कारनामे तो बड़े मज़ेदार हैं।

एक कहानी मैं तुम्हें खुद सुनाना चाहता हूं। जब हम विक्टोरिया से वैन्कूवर जाते समय जहाज़ में थे –70 मील की इस यात्रा में चारों तरफ द्वीप और घने जंगल फैले हुए थे – उस दौरान हमने दर्ज़नों व्हेल मछलियां देखीं, पानी भर-भर के चारों ओर फव्वारें छोड़ती हुईं। कुछ तो पानी से ऊपर उठ-उठ कर मानों कि अपनी पीठ दिखा रही हो हमें, इस तरह

इनको कूबड़ पीठ (hump backs) कहते हैं। और फिर अचानक दो दैत्याकार मछलियां पानी से एक साथ उछलकर पूरी बाहर आ गईं। ये दोनों आपस में लड़ रही थीं।

ऐसा हैरत अंगेज़ नज़ारा था कि मैं देखता ही रह गया। तभी एक आदमी ने मेरे पास आकर पूछा, "मिस्टर किपलिंग क्या आपको व्हेल मछलियों में रुचि है?" मैंने कहा, "मैं इनके बारे में ज़्यादा-से-ज़्यादा जानना चाहता हूं।" उसने कहा, "फिर तो आप सही आदमी के पास पहुंच गए हैं। मैं यहां की व्हेलरी का इंचार्ज हूं।"

मैंने व्हेल मछलियों को पकड़ने के बारे में सुना था लेकिन व्हेलरी के बारे में कभी नहीं सुना था। उस आदमी के पास समुद्र तट पर कोई ऐसी जगह थी जहां व्हेल मछलियों को काटा जाता था। उसके दो जहाज़ लगातार पानी में घूमते रहते थे जिनका सिर्फ यह काम था कि व्हेलों का शिकार करें। ये लोग

बंदूक-बम का इस्तेमाल करते हैं। तुमने इसके बारे में पढ़ा होगा। एक छोटी-सी तोप से एक हारपून (व्हेल के शिकार का एक भालानुमा हथियार) दागा जाता है, जिसके सिरे में एक बारूद का गोला लगा रहता है। हारपून व्हेल में घुस जाता है और फिर यह गोला फट पड़ता है और व्हेल बहुत जल्दी मर जाती है। लेकिन उस आदमी ने बताया कि व्हेल मरते वक्त बड़ी भयानक और दर्दनाक आवाज़ें करती है। "मिस्टर किपलिंग आपको अपनी ज़िंदगी में किसी व्हेल को मरते हुए सुनना न पड़े।" उस आदमी ने कहा।

जहाज़ पर एक खास किस्म का हवा भरने का पम्प होता है। जिससे व्हेल के मृत शरीर में इतनी हवा भर दी जाती है कि वो डूबे नहीं। फिर जहाज़ दूसरी व्हेल की तलाश में आगे बढ़ जाते हैं और दिन खत्म होने पर शिकार की गई सारी व्हेलों को व्हेलरी में ला कर छोड़ देते हैं। पहले व्हेल में बारूद भरो, फिर व्हेल में हवा भरो – बेचारी व्हेल!

ये व्हेलरी बाकायदा एक फैक्ट्री की तरह है जिसमें व्हेल की चरबी उतार कर उबालकर उससे तेल निकाला जाता है। (मुझे उस आदमी ने बताया कि बाज़ार में 'कॉड लिवर ऑयल' के नाम से बिकता है वो दरअसल व्हेल मछली का ही तेल होता है।)

ये लोग इसकी हड्डियों से खाद बनाते हैं और मांस को सुखाकर जापानियों को बेचते हैं, जो बड़े शौक से इसे खाते हैं। आंतों की खाल से जूतों के लिए चमड़ा बनता है। अभी तक ये लोग व्हेल की बाहरी खाल का कोई उपयोग नहीं कर पाए हैं। लेकिन इन्हें उम्मीद है कि किसी दिन वे इसे फर्श पर बिछाने के कपड़े का रूप दे पाएंगे। बची हुई सारी-की-सारी व्हेल जो खाना, तेल या चमड़ा बनाने में इस्तेमाल नहीं हो पाती उसे पीसकर कृत्रिम खाद बना ली जाती है जिसे कि सीधे रेल के डिब्बे में भर दिया जाता है। यहां मै उस व्हेलरी का चित्र बनाने की कोशिश कर रहा हूं।

एक चौडा लकड़ी का ढलवां पटिया व्हेलरी से पानी की ओर जा रहा है।

जहाज़ व्हेल को इसके निचले सिरे तक ले आता है, फिर यहां से इसे ऊपर खींचा जाता है, ठीक उसी तरह जैसे नाव को पानी से बाहर खींचा जाता है। उसके बाद कई आदमी इसे छुरों, आरियों वगैरह से काटते हैं। काश तुमने भी उस आदमी की बातें सुनी होतीं। उसके लिए व्हेल की खाद और व्हेल का वो सूखा सड़ियल मीट — जिसके लिए जापानी अच्छे दाम देते हैं — ही दुनिया में सब कुछ था।

कल शाम पांच बजे से हम चार हज़ार फीट की ऊंचाई पर इस पहाड़ी इलाके में हैं। आज हम बग्गी में बैठकर 'एमेराल्ड झील' देखने गए। यह अद्भुत झील खूबसूरत पन्ने जैसे गहरे रंग की है। चारों ओर विशाल पर्वत खड़े हैं और उनकी बर्फ से ढकी चोटियां भी इस झील के पानी में झिलमिलाती हुई हरी-हरी-सी दिखती हैं — बिल्कुल पन्ने की तरह। वहां का रास्ता बहुत-ही खराब था — एक ओर पहाड़, दूसरी ओर खाई। एक मोड़ पर हमें सामान से लदा एक भूरा और सफेद बिंदियों वाला खच्चर मिला जिसकी आंखें नीली थीं। उसके पीछे सामान ढोते खच्चरों की एक लंबी कतार थी और दो पहाड़ी औरतें भी साथ में थीं। उन्होंने मोतियों की जैकेट पहन रखी थी। वे खच्चरों पर सवार थीं। धूप से उनका रंग काला पड़ गया था। पर जब वे मेरे करीब से निकलीं तो मैंने जाना कि वे अंग्रेज़ महिलाएं थीं; जो तीन महीनों से अपने इन खच्चरों और एक गाइड के साथ खुले में मटरगश्ती कर रही थीं। मैंने अपने मन में सोचा और मम्मी ने भी यही सोचा कि अगर सब कुछ ठीक चलता रहा तो कुछ साल बाद तुम और बर्ड हमारे साथ आकर इस सुंदर प्रदेश में इसी तरह एक महीना गुज़ारोगे।

अब मुझे खत यहीं रोक देना चाहिए। बहुत सारा प्यार और यकीनन बहुत-सी इज्ज़त।

हमेशा तुम्हारा अपना

पापू

यह अंश 'O Beloved Kids' से लिया गया है। इस किताब में वो चिट्ठियां हैं जो रुडयार्ड किपलिंग ने अपने बच्चों को लिखीं थीं। रुडयार्ड किपलिंग के तीन बच्चे थे — जोसेफाइन, एल्सी और जॉन। जोसेफाइन की मौत सात साल की उम्र में ही हो गई। उसे न्यूमोनिया हुआ था। इस किताब के लिए जो चिट्ठियां चुनी गई हैं वे किपलिंग ने एल्सी व जॉन को लिखी थीं। बालपन के विरोधाभासों की किपलिंग की गहरी समझ इन खतों में बार-बार झलकती है। इन्हीं में से एक चिट्ठी हम यहां प्रकाशित कर रहे हैं, जो उन्होंने जॉन को लिखी थी। इस खत के सब चित्र भी उन्होंने बनाए थे।

(शेष अगले पेज पर)

इस बार का सवाल

सवालः कभी-कभी हमारे शरीर के अंग जैसे हाथ और पैर अचानक कुछ काम नहीं करते और एक प्रकार से सुन्न हो जाते हैं जिसे हम कहते हैं कि पैर में नींद आ गई, ऐसा क्यों?

बलदेव जुमनानी
माधु वामवाणी विद्या मंदिर

हो सकता है कि कभी आपने भी इस सवाल के बारे में सोचा हो। अगर आपके पास इससे जुड़ी कोई जानकारी है तो हमें लिख भेजिए। हमारा पता हैः संदर्भ, द्वारा एकलव्य, कोठी बाज़ार,होशंगाबाद, म. प्र. 461 001.

(पिछले पेज से जारी)

जॉन की मृत्यु 18 साल की उम्र में युद्ध में हो गई। युद्ध में उसने आइरिश गार्ड्स की तरफ से हिस्सा लिया था।

रविवार की सुबह आने वाले 'मोगली' को तो आप भूले नहीं होंगे। यह किपलिंग की ही खोज है। एक और प्रसिद्ध किरदार 'किम' भी किपलिंग के हाथों जन्मा था।

किपलिंग एक ही साथ बच्चे और बड़े के समान सोच पाते थे। वे मानते थे कि एक अच्छा पिता वह है जो यह न भूले कि वो भी कभी बच्चा था।

किपलिंग का जन्म 1864 में बंबई में हुआ था। उन्हें पढ़ने के लिए ब्रिटेन भेज दिया गया। लेकिन 17 साल की उम्र में वे भारत लौट आए। उन्होंने कई किताबें लिखीं। बाद में वे वापस ब्रिटेन लौट गए। 1907 में उन्हें साहित्य के लिए नोबेल पुरस्कार मिला। 1938 में उनका निधन हो गया।

रुडयार्ड किपलिंग
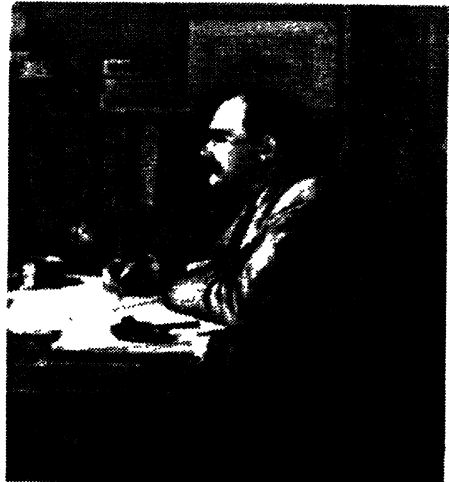
(स्मिता अग्रवाल -- जयपुर में लोक जुम्बिश परिषद के साथ काम करती हैं।)

पुस्तक परिचय

द्वन्द्व से शिक्षा
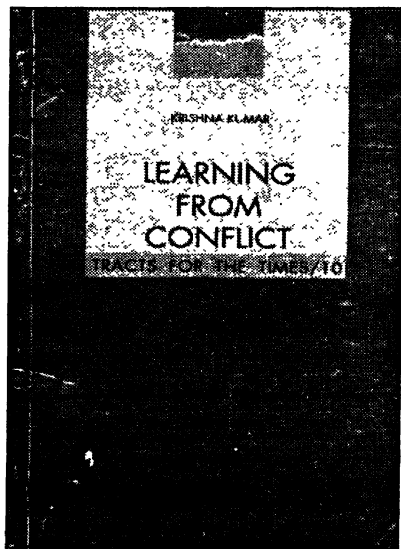
लर्निंग फ्रॉम कॉन्फलिक्ट; लेखक: कृष्ण कुमार; प्रकाशक: ओरिएन्ट लोंगमेन; मूल्य: 50 रुपए; पृष्ठ: 81

'शिक्षण में सामाजिक द्वन्द्वों का भरसक उपयोग करना चाहिए, उनसे बचना नहीं चाहिए। द्वन्द्वों को बच्चों से छुपाने से हम उन्हें एक जीवंत और सार्थक शैक्षणिक सामग्री से वंचित रखते हैं। बच्चे इन द्वन्द्वों के प्रति सचेत होते हैं और उसके ज़रिए अपने आसपास की दुनिया को समझने की कोशिश करते हैं।'

● **नूतन झा**

कृष्ण कुमार ने यह किताब भारत वर्ष में स्कूली शिक्षा के ऊपर लिखी है। वास्तव में आधुनिक काल में तथा एक जनतांत्रिक समाज व्यवस्था में शिक्षा सबसे महत्वपूर्ण मुद्दों में से एक है। क्योंकि आधुनिक जगत में प्रवेश करने के लिए शिक्षा को एक माध्यम के रूप में, पूंजी के रूप में देखा जा सकता है। इसके साथ ही शिक्षा को सर्वव्यापी बनाना जनतंत्र का एक प्रमुख उद्देश्य रहा है। इसलिए देश में शिक्षा व्यवस्था का वास्तविक

* यह किताब 'ट्रेक्ट्स फॉर द टाइम्स' की दसवीं कड़ी है। यह ट्रेक्ट ओरिएन्ट लोंगमेन द्वारा प्रकाशित उन किताबों की श्रृंखला है जो उन्होंने देश के विभिन्न ज्वलंत प्रश्नों पर छापी हैं।

स्वरूप, स्कूल की कक्षाएं, उनका पाठ्यक्रम, निश्चित रूप से सबकी उत्सुकता का विषय है। और इस परिप्रेक्ष्य में यह किताब अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। कृष्ण कुमार दिल्ली विश्वविद्यालय में शिक्षा शास्त्र के प्रोफेसर हैं और इस विषय पर बहुत पहले से लिखते रहे हैं।

जिस शैली में, जिन उदाहरणों के साथ और समाज के प्रति जिस निष्ठा के साथ यह किताब लिखी गई है, एक संवेदनशील पाठक को यह झकझोरती है। इस किताब की सफलता का प्रमाण है कि यह प्रश्न पर गहराई से विचार करने और प्रश्नों को उठाने की इच्छा भी जगाती है। लेकिन इन प्रश्नों पर आने से पहले इस पतली, तार्किक और लयबद्ध किताब की विषयवस्तु पर एक नज़र डालना आवश्यक है।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान भारत वर्ष में सामूहिक संघर्ष के माध्यम से एक प्रगतिशील जन जागृति हो रही थी — एक नई शिक्षा, नया ज्ञान भारतीय समाज प्राप्त कर रहा था। स्कूल शिक्षा और वृहत्तर सामाजिक व्यवस्था के बीच एक ऐसी अर्थपूर्ण कड़ी बन रही थी जो वास्तविक मुक्ति की, राष्ट्रीयता की, एकता की संदेशवाहक थी। पर शिक्षा के माध्यम से भारतीय समाज का उभरता एकबद्ध और प्रगतिशील स्वरूप निश्चित रूप से उपनिवेशवाद के हित में न था और यही वजह थी कि उपनिवेशवादियों ने पूरी शिक्षा व्यवस्था पर अपना प्रभाव कायम कर उसे एक बहुत ही संकीर्ण रूप देने का अभियान चलाया। उनकी इस नीति ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर इतना घातक प्रभाव डाला कि स्वाधीनता प्राप्त हो जाने के बाद भी इसे भुलाया नहीं जा सका। शीघ्र ही गांधी, टैगोर, गिजुभाई और कृष्णमूर्ति के शिक्षा दर्शन के मानवीय और प्रगतिशील स्वरूप को भुलाया जाने लगा। अपने चारों तरफ के समाज की वास्तविक सच्चाईयों के प्रति बच्चों के मन में निरपेक्ष भावना उत्पन्न करना पाठ्यक्रम का मूल सिद्धांत बनता गया। और सत्तर तथा अस्सी के दशक तक आते-आते तो देश में केन्द्रीकरण की ऐसी हवा चली कि सभी स्थानीय और क्षेत्रीय सामर्थ्यों को नज़रअंदाज़ कर दरकिनार कर दिया गया। यही नहीं शिक्षा को एक राष्ट्रीय स्वरूप देने के नाम पर उसका अधिक-से-अधिक यान्त्रीकरण किया जाने लगा। पहले जहां स्कूल की कक्षाएं वास्तविक सामाजिक परिवेश से अलग-थलग हो गई थीं, उसी क्रम में वे अब बाल जगत के साथ भी अपने सारे सामंजस्य खोती जा रही हैं।

द्वन्द्व से शिक्षा

इस परिप्रेक्ष्य में कृष्ण कुमार ने वर्तमान स्कूल पाठ्यक्रमों में इतिहास,

विज्ञान और भाषा पर चर्चा करते हुए एक गहरा और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। अपने इस अध्ययन की शुरुआत उन्होंने सामाजिक अंतर्द्वन्द्वों से की है। हमारा वयस्क समाज इन अंतर्द्वन्द्वों से बच्चों को भरसक सुरक्षित और दूर रखने की कोशिश करता है। कृष्ण कुमार का कहना है कि शिक्षण में सामाजिक द्वन्द्वों का भरसक उपयोग करना चाहिए, उनसे बचना नहीं चाहिए। द्वन्द्वों को बच्चों से छुपाने से हम उन्हें एक जीवंत और सार्थक शैक्षणिक सामग्री से वंचित रखते हैं। बच्चे इन द्वन्द्वों के प्रति सचेत होते हैं और उसके ज़रिए अपने आसपास की दुनिया को समझने की कोशिश करते हैं। इसे समझाने के लिए किताब में कई सटीक उदाहरण भी लिए गए हैं। जैसे दिल्ली में इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हुए भयानक दंगों के बाद ज़बर्दस्ती बनाए सन्नाटे में, स्कूली बच्चों के मन में उफनते प्रश्नों को दबाने, नज़रअंदाज़ करने के सरकारी अंदाज़ का उदाहरण। कक्षा आठ की 'एन.सी.ई.आर.टी. की आधुनिक भारत के इतिहास' की किताब में गांधी जी की हत्या के अपर्याप्त विवरण के आधार पर उठ सकने वाले बहुत सारे प्रश्नों को यूं ही छोड़ देने का उदाहरण। *(देखिए द्वन्द्व की प्रस्तुति.... पृष्ठ 91 पर)* और कृष्ण कुमार बिल्कुल सही फरमाते हैं कि अपने प्रश्नों का सही और स्पष्ट उत्तर न मिलने पर बच्चे जब आसपास के स्रोतों का सहारा लेने जाते हैं तो संभव है कि उन्हें उसकी विकृत छवि मिले। और इस तरह वैज्ञानिक और आधुनिक शिक्षा की दावेदार हमारी शिक्षा व्यवस्था कभी-कभी इतना निरपेक्ष, इतना असंवेदनशील माहौल बना डालती है कि ऐसे माहौल में कभी सिख विरोधी दंगे, तो कभी अयोध्या कांड जैसी घटनाएं घटनी संभव हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त बड़े हो रहे बालक-बालिका इन अंतर्द्वन्द्वों को नज़रअंदाज करके नहीं, बल्कि उन्हें गहराई से समझ कर ही भविष्य में एक सुलझा इंसान बन सकते हैं।

इतिहास में क्रम.....

दूसरे अध्याय में कृष्ण कुमार ने स्कूल के पाठ्यक्रमों में इतिहास के विषय को लिया है। आज़ादी के बाद, विशेष रूप से साठ के दशक से, स्कूलों में इतिहास के पाठ्यक्रम को राष्ट्रनिर्माण के एक प्रमुख ज़रिए के रूप में देखा गया है। परन्तु कृष्ण कुमार इस प्रयास की दो त्रुटियों की तरफ इंगित करते हैं। पहला कि पाठ्यक्रमों में प्राचीनकाल से आज़ादी प्राप्ति तक के इतिहास को तिथिक्रम के अनुसार निरन्तर क्रम में रखा गया है। इतिहास में यह निरन्तरता और भारत को प्राचीनकाल से एक राष्ट्र के रूप में रखने की कोशिश इतिहास में आने वाले किसी अंतराल

स्वरूप, स्कूल की कक्षाएं, उनका पाठ्यक्रम, निश्चित रूप से सबकी उत्सुकता का विषय है। और इस परिप्रेक्ष्य में यह किताब अत्यंत महत्व-पूर्ण हो जाती है। कृष्ण कुमार दिल्ली विश्वविद्यालय में शिक्षा शास्त्र के प्रोफेसर हैं और इस विषय पर बहुत पहले से लिखते रहे हैं।

जिस शैली में, जिन उदाहरणों के साथ और समाज के प्रति जिस निष्ठा के साथ यह किताब लिखी गई है, एक संवेदनशील पाठक को यह झकझोरती है। इस किताब की सफलता का प्रमाण है कि यह प्रश्न पर गहराई से विचार करने और प्रश्नों को उठाने की इच्छा भी जगाती है। लेकिन इन प्रश्नों पर आने से पहले इस पतली, तार्किक और लयबद्ध किताब की विषयवस्तु पर एक नज़र डालना आवश्यक है।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान भारत वर्ष में सामूहिक संघर्ष के माध्यम से एक प्रगतिशील जन जागृति हो रही थी – एक नई शिक्षा, नया ज्ञान भारतीय समाज प्राप्त कर रहा था। स्कूल शिक्षा और वृहत्तर सामाजिक व्यवस्था के बीच एक ऐसी अर्थपूर्ण कड़ी बन रही थी जो वास्तविक मुक्ति की, राष्ट्रीयता की, एकता की संदेशवाहक थी। पर शिक्षा के माध्यम से भारतीय समाज का उभरता एकबद्ध और प्रगतिशील स्वरूप निश्चित रूप से उपनिवेशवाद के हित में न था और यही वजह थी कि उपनिवेशवादियों ने पूरी शिक्षा व्यवस्था पर अपना प्रभाव कायम कर उसे एक बहुत ही संकीर्ण रूप देने का अभियान चलाया। उनकी इस नीति ने भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर इतना घातक प्रभाव डाला कि स्वाधीनता प्राप्त हो जाने के बाद भी इसे भुलाया नहीं जा सका। शीघ्र ही गांधी, टैगोर, गिजुभाई और कृष्णमूर्ति के शिक्षा दर्शन के मानवीय और प्रगतिशील स्वरूप को भुलाया जाने लगा। अपने चारों तरफ के समाज की वास्तविक सच्चाईयों के प्रति बच्चों के मन में निरपेक्ष भावना उत्पन्न करना पाठ्यक्रम का मूल सिद्धांत बनता गया। और सत्तर तथा अस्सी के दशक तक आते-आते तो देश में केन्द्रीकरण की ऐसी हवा चली कि सभी स्थानीय और क्षेत्रीय सामर्थ्यों को नज़रअंदाज़ कर दरकिनार कर दिया गया। यही नहीं शिक्षा को एक राष्ट्रीय स्वरूप देने के नाम पर उसका अधिक-से-अधिक यान्त्रीकरण किया जाने लगा। पहले जहां स्कूल की कक्षाएं वास्तविक सामाजिक परिवेश से अलग-थलग हो गई थीं, उसी क्रम में वे अब बाल जगत के साथ भी अपने सारे सामंजस्य खोती जा रही हैं।

द्वन्द्व से शिक्षा

इस परिप्रेक्ष्य में कृष्ण कुमार ने वर्तमान स्कूल पाठ्यक्रमों में इतिहास,

विज्ञान और भाषा पर चर्चा करते हुए एक गहरा और विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। अपने इस अध्ययन की शुरुआत उन्होंने सामाजिक अंतर्द्वन्द्वों से की है। हमारा वयस्क समाज इन अंतर्द्वन्द्वों से बच्चों को भरसक सुरक्षित और दूर रखने की कोशिश करता है। कृष्ण कुमार का कहना है कि शिक्षण में सामाजिक द्वन्द्वों का भरसक उपयोग करना चाहिए, उनसे बचना नहीं चाहिए। द्वन्द्वों को बच्चों से छुपाने से हम उन्हें एक जीवंत और सार्थक शैक्षणिक सामग्री से वंचित रखते हैं। बच्चे इन द्वन्द्वों के प्रति सचेत होते हैं और उसके ज़रिए अपने आसपास की दुनिया को समझने की कोशिश करते हैं। इसे समझाने के लिए किताब में कई सटीक उदाहरण भी लिए गए हैं। जैसे दिल्ली में इंदिरा गांधी की हत्या के बाद हुए भयानक दंगों के बाद ज़बर्दस्ती बनाए सन्नाटे में, स्कूली बच्चों के मन में उफनते प्रश्नों को दबाने, नज़रअंदाज़ करने के सरकारी अंदाज़ का उदाहरण। कक्षा आठ की 'एन.सी.ई.आर.टी. की आधुनिक भारत के इतिहास' की किताब में गांधी जी की हत्या के अपर्याप्त विवरण के आधार पर उठ सकने वाले बहुत सारे प्रश्नों को यूं ही छोड़ देने का उदाहरण। *(देखिए द्वन्द्व की प्रस्तुति.... पृष्ठ 91 पर)* और कृष्ण कुमार बिल्कुल सही फरमाते हैं कि अपने प्रश्नों का सही और स्पष्ट उत्तर न मिलने पर बच्चे जब आसपास के स्रोतों का सहारा लेने जाते हैं तो संभव है कि उन्हें उसकी विकृत छवि मिले। और इस तरह वैज्ञानिक और आधुनिक शिक्षा की दावेदार हमारी शिक्षा व्यवस्था कभी-कभी इतना निरपेक्ष, इतना असंवेदनशील माहौल बना डालती है कि ऐसे माहौल में कभी सिख विरोधी दंगे, तो कभी अयोध्या कांड जैसी घटनाएं घटनी संभव हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त बड़े हो रहे बालक-बालिका इन अंतर्द्वन्द्वों को नज़रअंदाज करके नहीं, बल्कि उन्हें गहराई से समझ कर ही भविष्य में एक सुलझा इंसान बन सकते हैं।

इतिहास में क्रम.....

दूसरे अध्याय में कृष्ण कुमार ने स्कूल के पाठ्यक्रमों में इतिहास के विषय को लिया है। आज़ादी के बाद, विशेष रूप से साठ के दशक से, स्कूलों में इतिहास के पाठ्यक्रम को राष्ट्रनिर्माण के एक प्रमुख ज़रिए के रूप में देखा गया है। परन्तु कृष्ण कुमार इस प्रयास की दो त्रुटियों की तरफ इंगित करते हैं। पहला कि पाठ्यक्रमों में प्राचीनकाल से आज़ादी प्राप्ति तक के इतिहास को तिथिक्रम के अनुसार निरन्तर क्रम में रखा गया है। इतिहास में यह निरन्तरता और भारत को प्राचीनकाल से एक राष्ट्र के रूप में रखने की कोशिश इतिहास में आने वाले किसी अंतराल

को परिदर्शित होने ही नहीं देती। इसी प्रकार उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के माध्यम से जो राष्ट्र उभरा उसका सही परिचय बच्चों को नहीं मिल पाता। दूसरा, कृष्ण कुमार कहते हैं कि पूरे इतिहास को पाठ्यक्रम में डाल देने की नीति के कारण स्वाधीनता संग्राम के हिस्से को बहुत कम स्थान मिल पाता है। फलत: वह चंद नेताओं की जीवनी या इतिहास की घटनाओं के क्रम में एक और घटना के रूप में ही एक छोटा-सा हिस्सा बन कर रह जाता है। फलत: राष्ट्र निर्माण में जिस हद तक सहायक होना चाहिए वह नहीं हो पाता।

इतिहास पाठ्यक्रम को लेकर कृष्ण कुमार ने बहुत ही अहम सवालों को उठाया है जिस सब का ज़िक्र इस लेख में तो करना मुश्किल है, पर इतिहास अध्ययन को अधिक-से-अधिक रचनात्मकता प्रदान करने की दिशा में उनके सुझाव की थोड़ी चर्चा यहां की जा सकती है।

पहले तो लेखक ने यूरोप के कुछ देशों के इतिहास के पाठ्यक्रमों का उदाहरण लिया है। इनमें प्राचीन इतिहास को प्राथमिकता के आधार पर एवं घटनाओं का चुनाव करके प्रस्तुत किया गया है। पुनर्जागरण के बाद के इतिहास को ही तिथिक्रम के अनुसार विस्तृत रूप में रखा गया है ताकि बच्चे वर्तमान के साथ इतिहास की प्रासंगिकता को देख पाएं और उसका सही लाभ उठा पाएं।

दूसरा, उन्होंने इतिहास की किताबों की रचना करने के हमारे परंपरागत ढंग यानी कम स्थान में अधिक ठूंस देने को व्यर्थ बताया है। इससे एक तो किताबें सघन और नीरस हो जाती हैं, वहीं दूसरी ओर वर्तमान परीक्षा व्यवस्था में सिवाय उसे कंठस्थ करने के और कोई रास्ता नहीं बचता। यशपाल कमेटी में ज़रूर इस अमानवीय बोझ की निन्दा की गई है, परन्तु सरकारी रवैया बिल्कुल उदासीन है। कृष्ण कुमार का सुझाव है कि भूतकाल की 'समूची' कहानी को समेटकर बच्चों के मस्तिष्क में 'डाल' देने के इस दुरूह प्रयास के बदले अगर पाठ्यक्रमों की रचना में कुछ ऐसा विकल्प सोचा जाए, जिसमें बच्चे भी अपने ऐतिहासिक चिन्तन को व्यवहार में ला सकें तो कुछ सकारात्मक नतीजा सामने आ सकता है। अगर बच्चों को इतिहास की जानकारी के प्राथमिक स्रोतों से परिचित कराया जाए, कुछ घटनाओं की गहराई में जाकर अपने प्रश्नों का हल ढूंढने की प्रवृत्ति जगाई जाए, इतिहास लेखन – जो वास्तव में काल की तहों में जाकर विवरण और विश्लेषण के आधार पर तथ्यों को सामने लाने की एक कला है – को बच्चों के करीब लाया जाए तो बच्चे उसको अपने जीवन के संग जोड़ सकेंगे

और उनमें उसके प्रति सम्मान भाव बढ़ेगा। तब उसे बदल डालने की नहीं वरन् उसे समझने और उसके साथ जीने की प्रवृत्ति जन्मेगी।

पर्यावरण अध्ययन बनाम विज्ञान

इतिहास के बाद कृष्ण कुमार ने स्कूलों में विज्ञान के अध्ययन पर चर्चा की है। उनका मानना है कि प्राथमिक स्कूल विज्ञान को 'पर्यावरण अध्ययन' के रूप में रखने और माध्यमिक स्तर के विज्ञान पाठ्यक्रम में 'पर्यावरण के प्रति सजगता जगाने' का प्रयास वास्तव में विज्ञान शिक्षा के प्रारंभिक स्वरूप या चरित्र को नहीं बदल पाया है। बल्कि विज्ञान अध्ययन के अंतर्गत जो वर्तमान मूल्य बोध है वह अभी भी प्रकृति के ऊपर नियंत्रण, यहां तक कि विजय हासिल करने की प्रवृत्ति को ही जगाता है। पर दूसरी ओर अल्पवयस्क बच्चों के पाठ्यक्रम में 'पर्यावरण अध्ययन' को डालकर समाज को प्रकृति के विनाश के प्रति सचेतन बनाने का प्रयास बहुत ही असंगत स्थिति पैदा करता है। यही नहीं पर्यावरण अध्ययन के साथ स्कूल पाठ्यक्रम के अन्य विषयों का संबंध भी सामंजस्यपूर्ण नहीं है, क्योंकि इनमें पृथ्वी के स्रोतों का अनन्त शोषण कर असीमित आर्थिक प्रगति और मूलभूत परिवर्तनों की धारणा बनाई जाती है। जबकि 'पर्यावरण अध्ययन' आधुनिक जीवन शैली के प्रति बहुत हद तक आलोचक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। इस तरह वर्तमान

पहले तीर्थस्थल अब प्रदूषण. . . .

हमारी शिक्षा व्यवस्था पर्यावरण के मुद्दों के प्रति हाल ही में सचेत हुई है... साठ के दशक में छपी पाठ्य पुस्तकों में धुंआ उगलते कारखाने के रेखाचित्रों के साथ शीर्षक होता था – 'आधुनिक भारत के तीर्थस्थल'। अब इसमें संशोधन कर दिया गया है और नया शीर्षक कहता है, 'प्रदूषण के स्रोत'। यद्यपि बच्चों को यह निहायत बुरी खबर साफ-साफ नहीं बताई जाती कि अब डी.डी.टी. से मच्छरों को नहीं मारा जा सकता ... फिर भी यह संदेश तो ज़ाहिर हो ही जाता है कि डी.डी.टी. बुरी चीज़ है। ... इसी तरह के कई नकारात्मक संदेश ... कुछ उलझे-बिखरे हुए पर फिर भी इशारा करते हुए – पर्यावरण अध्ययन की सामग्री में बिखरे हुए हैं, रासायनिक खादों पर, जीवाष्म संसाधनों से ली जा रही ऊर्जा पर, उपभोगपूर्ण जीवन शैली पर, उत्पादन के आधुनिक तरीकों पर। अगर हम ऐसे सब विषयों और उप-

शेष अगले पेज पर

विज्ञान पाठ्यक्रम बच्चों के सामने एक अस्पष्ट और दोहरे मानदण्डों के साथ रखा गया विषय है। *(देखिए **पहले तीर्थस्थल अब प्रदूषण**, पिछले पृष्ठ पर)*

अलग-अलग दुनिया

कृष्ण कुमार ने अंत में हमारे देश में अंग्रेज़ी शिक्षा के माध्यम से नव-उपनिवेशवाद के बढ़ते प्रभाव पर विचार किया है। पब्लिक स्कूलों का बढ़ता बोलबाला और सरकारी स्कूलों की चरमराती हालत — दोनों ने मिलकर समाज में ऐसा असंतुलन पैदा कर दिया है जिससे उबर पाना मुश्किल होता जा रहा है। क्योंकि जहां एक ओर अंग्रेज़ी में प्रवीणता हासिल कर लेने पर बच्चे समाज में विशेष प्रतिष्ठा और नौकरियों में अधिक स्थान पाने के अधिकारी हो जाते हैं वहीं दूसरी ओर अपनी मातृभाषा से कट जाने के कारण अपने आसपास के परिवेश, समाज और जीवन के साथ एकात्मता स्थापित नहीं कर पाते। फलतः उनका ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। दूसरी ओर सरकारी स्कूलों के छात्र, जो अंग्रेज़ी को शिक्षा के माध्यम के रूप में न पढ़कर एक विषय के रूप में पढ़ते हैं क्रमशः हीन भावना के शिकार होते जा रहे हैं। यही नहीं उन्हें उचित सामाजिक प्रतिष्ठा तथा नौकरियों में योग्यता के अनुसार अवसर भी नहीं मिल पाते। इस प्रकार देश की बौद्धिक क्षमता का अपव्यय कर ऐसा सांस्कृतिक परिवेश बनाया जा रहा हे जिसमें नव-उपनिवेशवाद के खिलाफ उठी आवाज़ प्रभावहीन हो जाती है।

इस प्रकार कृष्ण कुमार ने अपनी इस पुस्तक में बहुत अर्थपूर्ण मुद्दों को उठाया है और उनका मानना है कि वर्तमान सामाजिक-आर्थिक ढांचा ही

विषयों को जोड़ दें तो पता चलता है कि पर्यावरण अध्ययन पाठ्यक्रम आधुनिक जीवन शैली की एक व्यापक और गहरी आलोचना से कम नहीं है।

मनुष्य जब जानवरों का अध्ययन करता है तो जानवर उस हिंसा को कैसे झेलते हैं, उसकी किसी विज्ञान के पाठ में चर्चा नहीं होती। ... प्रसिद्ध वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बोस के प्रयोग — जिनसे यह पता चला कि वनस्पतियों में प्रतिक्रिया करने की क्षमता होती है — हिन्दी की पाठ्य पुस्तक में स्थान पाते हैं, विज्ञान की पाठ्य-पुस्तकों में बिलकुल नहीं।

बच्चे जब दुनिया में सामंजस्य की तलाश करते हैं तब इन सीमाओं में पलती-पुसती वैज्ञानिक मानसिकता जिसकी इतनी चर्चा है, उनको कोई रास्ता नहीं दिखा पाती।

('लर्निंग फ्रॉम कॉन्फलिक्ट' का एक अंश)

शिक्षा को एक सार्थक सामाजिक प्रक्रिया न बनने देने का ज़िम्मेदार है। आशा है कृष्ण कुमार की नई रचनाएं हमारे विचारों के प्रवाह को इसी तरह आगे ले जाने में सहायक रहेंगी।

(नूतन झा – दिल्ली में रहती हैं।)

द्वंन्द्व की प्रस्तुति कैसे*.....

हमारे शिक्षा तंत्र में सामाजिक द्वन्द्व को स्वीकार करने में बड़ी हिचकिचाहट व्याप्त है। यह भी आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता कि चलिए सामयिक उदाहरणों को शांति व्यवस्था भंग होने की आशंका के चलते पढ़ाई में ज़्यादा तूल न दी जाए तो कम-से-कम ऐसे मामले जिनका कोई तात्कालिक महत्व नहीं है वे तो पाठ्यक्रम में उठाए जा सकते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण होगा ऐसी ऐतिहासिक घटना जो सामाजिक द्वन्द्व की पैदाईश हो और आज भी बच्चों की उत्सुकता और जिज्ञासा की पात्र हो। हाल की घटना न होकर पुरानी होने के कारण इसका विस्तृत और निष्पक्ष अध्ययन किया जा सकता है। महात्मा गांधी की हत्या एक ऐसी घटना है। इस तरह के अध्ययन के लिए शायद ही इससे बेहतर कोई उदाहरण अपने इतिहास से हमें मिले।

ऐसी शायद ही और कोई घटना होगी जिसके बारे में बच्चों की जिज्ञासा स्वाभाविक रूप से जागृत होगी और वे उसकी तह तक जाना चाहेंगे। भारतीय इतिहास में गांधीजी की वृहद भूमिका और अहिंसा के सिद्धांत के अनुसार व्यवहार को देखते हुए एक हत्यारे के हाथों मारे जाने की बात बच्चों के लिए एक पहेली बन जाती है। बच्चे यह जानने को उत्सुक होते हैं कि एक ऐसा महान भारतीय जिसने शांति और प्रेम का संदेश दिया, उसे गोली से क्यों मारा गया।

शैक्षणिक दृष्टि से यह घटना ऐतिहासिक अध्ययन के लिए काफी उपयुक्त लगती है। गांधीजी की हत्या से संबंधित बच्चों की जिज्ञासा को शांत करने के लिए हमारे बच्चों को अपनी पाठ्य-पुस्तकों से क्या मदद मिलती है, देखते हैं।

"भारत के स्वतंत्र होने के कुछ ही दिनों बाद भारतीय जनता को एक महान विपत्ति का सामना करना पड़ा। गांधीजी ने भारतीय जनता

*लर्निंग फ्रॉम कॉन्फलिक्ट के प्रथम अध्याय प्रेज़ेन्टेशन ऑफ कान्फलिक्ट से अनुदित। पृष्ठ-7 से 15

की जागृति में महान भूमिका अदा की थी। उन्होंने आज़ादी की लड़ाई में भारतीय जनता का अनेक सालों तक नेतृत्व किया था। वे आधुनिक भारत के महानतम मानव थे और मानवता के इतिहास के एक श्रेष्ठतम पुरुष थे। उनके मार्गदर्शन और नेतृत्व में भारत ने आज़ादी की लड़ाई लड़ी और अंत में आज़ादी प्राप्त की। इसीलिए उन्हें राष्ट्रपिता माना जाता है। जिन कार्यों के लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पित किया था उनमें से एक प्रमुख था हिन्दू-मुस्लिम एकता का कार्य। जब सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे तो उन्होंने दंगाग्रस्त क्षेत्रों का दौरा किया और शांति तथा सांप्रदायिक मैत्री स्थापित करने के लिए प्रेम तथा बंधुत्व का उपदेश दिया। जिस दिन भारत स्वतंत्र हुआ उस दिन गांधीजी कलकत्ता के दंगों से प्रभावित क्षेत्र में थे। हिन्दुओं तथा मुसलमानों की हत्याओं से और देश विभाजन से उन्हें बेहद पीड़ा हुई थी। कुछ लोग प्रेम और बंधुभाव के उनके संदेश को पसंद नहीं करते थे। दूसरे समुदायों के प्रति उनके दिमागों में नफरत का ज़हर भरा था। 30 जनवरी, 1948 ई. को एक हिन्दू धर्मांध ने गांधीजी को, जब वे प्रार्थना सभा में जा रहे थे, गोली मार दी। भारतीय जनता विगत साल में हुई सांप्रदायिक हत्याओं तथा विनाश के आघात से जैसे-तैसे अपने को संभालने का प्रयास कर रही थी, पुनः गहन शोक में डूब गई। जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि, "हमारे जीवन से प्रकाश गायब हो गया है"। गांधीजी कलह से भरे विश्व में प्रेरणा के स्रोत और प्रकाश के स्तंभ थे। वे सारे संसार में महात्मा के नाम से जाने जाते थे। उन्होंने हर व्यक्ति के आंसू पोंछने और हर जगह से दुख दूर करने के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया था। उनके सपने को पूरा करना हम सबका कर्त्तव्य है।

(एन.सी.ई.आर.टी. की कक्षा-8 की किताब से लिया गया गांधीजी की हत्या संबंधित अंश, पृष्ठ 272-73)

पहली बात तो यह है कि जिस 'महान विपत्ति' को शुरूआत में इंगित किया गया उसकी चर्चा इस अंश के मध्य तक नहीं होती है। इस बीच हमें गांधी जी की महानता, राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में और फिर संपूर्ण मानवता के संदर्भ में बताई जाती है। फिर दंगों के कारण गांधी जी के दुखी होने की बात कही गई है। . . .

. . . इस अंश में विशेष प्रयास किया गया है कि पाठक यह सरल बात न पकड़ पाए कि सांप्रदायिक दंगों में आम लोग खुद एक दूसरे को मारने पर तुल जाते हैं। बल्कि यह आभास दिलाने का प्रयास है कि किसी अज्ञात तीसरी ताकत ने हिन्दुओं व मुसलमानों में कत्लेआम मचाया। 30 जनवरी की घटना के ज़िक्र से ठीक पहले वाले वाक्य में 'कुछ लोगों' – जिन्हें गांधीजी के प्रेम और बंधुत्व की की बात पसंद नहीं थी – की बात की गई है। हमें यह नहीं बताया जाता है कि ये कौन लोग थे। हमें यह भी नहीं बताया जाता है कि ये 'कुछ' क्यों थे, 'बहुत' क्यों नहीं थे।

लेकिन इन सब बातों से अगले वाक्य में दी गई जानकारी को समझने में कोई मदद नहीं मिलती है। जानकारी यह कि एक हिन्दू धर्मांध ने गांधीजी की हत्या कर दी। अभी तक उभारे गए तर्क से दो सवाल खड़े हो जाते हैं:

पहला, ऐसा क्यों हुआ कि एक आदमी ने, जो उन 'कुछ लोगों' में से था जो 'दूसरे' समुदायों के प्रति घृणा करते थे, अपने ही समुदाय के गांधी जी को मार दिया?

दूसरा, गांधी जी ने ऐसा क्या किया कि उनके अपने समुदाय का व्यक्ति उनसे इतनी घृणा करे? प्रस्तुत अंश से पाठक को केवल यह जानकारी मिलती है कि गांधी जी 'प्रेम और बंधुत्व' का प्रचार कर रहे थे और और उन्हें मारने वाला हिन्दू आदमी एक 'धर्मांध' था। 'धर्मांध' का क्या अर्थ हो सकता है, यह भी स्पष्ट नहीं किया जाता। . . .

. . . यहां तक पहुंचते-पहुंचते एक और महत्वपूर्ण सवाल उठ खड़ा होता है। गांधीजी अपने पूरे राजनैतिक जीवन के दौरान प्रेम और बंधुत्व का प्रचार करते रहे थे, लेकिन उस समय ऐसी खास क्या परिस्थिति थी कि इस संदेश ने किसी को इस हद तक गुस्सा दिलाया कि उसने गांधीजी की हत्या ही कर दी? शायद इस प्रश्न का जवाब विभाजन के माहौल में ढूंढा जा सकता है, लेकिन प्रस्तुत अंश इस दिशा में इशारा भी नहीं करता। . . . इसी अध्याय में पहले बताया जाता है कि विभाजन 'सांप्रदायिक समस्याओं' का नतीजा था। गांधीजी की हत्या के वर्णन से भी लगता है कि इस दुखद घटना के पीछे भी सांप्रदायिक समस्या थी। इससे यह तार्किक निष्कर्ष निकलता है कि गांधीजी का हत्यारा विभाजन के पक्ष में रहा होगा। तो सवाल उठता है कि उसने विभाजन होने के बाद गांधीजी को क्यों मारा? इस अंश में उभारी गई और दर किनार की गई बातों से इस तरह के कई सवाल स्वाभाविक रूप से उठते हैं। लेकिन पाठ में इन्हें

संबोधित करने का कोई प्रयास नहीं दिखता। दरअसल हत्या की जानकारी के बाद हमें नेहरू की प्रतिक्रियाओं के बारे में बताया जाता है, और एक बार फिर गांधीजी का गुणगान। लेकिन अब सांप्रदायिकता के मसले से हटकर, चर्चा हर व्यक्ति के दुख दूर करने की ओर मुड़ जाती है। इस तरह पाठक के ध्यान को गांधी जी की निर्मम हत्या के सवालों से हटाकर दूर ले जाने का प्रयास है।...

इस अंश के संदर्भ में मैंने अभी तक संप्रेषण की उन समस्याओं का विश्लेषण किया जो शब्द चयन (Vocabulary), व्याकरण और तर्क के ढांचे से उत्पन्न होती हैं। इनके साथ-साथ हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संप्रेषण की कुछ समस्याएं प्राथमिक स्तर के इतिहास पाठ्यक्रम की ढांचागत विशेषताओं से संबंधित हैं।

इन विशेषताओं के कारण . . . ज़रूरी हो जाता है कि इतिहास की पाठ्य-पुस्तक बारीकियों में न उलझकर धाराप्रवाह बहे। पाठ्यक्रम निर्धारित कर देता है कि पाठ्य-पुस्तक सारी घटनाओं को एक-सी जगह दे — न कि कुछ को अधिक महत्व दे। पाठ्यक्रम का उद्देश्य है किसी काल के बारे में बुनियादी जानकारी देना, न कि महत्वपूर्ण घटनाओं की विस्तृत जानकारी के आधार पर विवेचना करना। इस पाठ्यक्रम के उद्देश्यों के अनुसार गांधी जी की हत्या राष्ट्रीय आंदोलन से संबंधित असंख्य घटनाओं में महज़ एक और घटना है।

. . . शायद यह कहा जा सकता है कि तेरह साल के बच्चे ऐसी घटनाओं को ग्रहण नहीं कर पाएंगे, और उनके मन में ऐसी घटनाओं को समझने के लिए ज़रूरी संबंधित अवधारणाएं पूर्णत: विकसित नहीं होती हैं। यह कथन काफी विडंबना पूर्ण है क्योंकि उद्धृत अंश में ऐसी कठिन अवधारणाओं का उपयोग है, जैसे — लोगों का जागरण, सांप्रदायिक दंगे, जुल्म, धर्मांधता आदि। शायद यह अपेक्षा ही नहीं है कि बच्चे ऐसी अवधारणाओं को समझते हुए पढ़ें।

गांधी जी की हत्या के कारण खोजने चलें तो हम पाएंगे कि यह घटना हमारे समाज के एक बहुत गहरे द्वन्द्व से संबंधित है। हिन्दुओं ओर मुसलमानों के बीच द्वन्द्व। इस पाठ्य-पुस्तक में गांधी जी की हत्या के अधकचरे प्रस्तुतिकरण के पीछे शायद यही मुख्य कारण है।

हमारे इतिहास में गांधीजी की मृत्यु इस द्वन्द्व से उभरने के प्रयास का प्रतीक है। लेकिन चूंकि हमारा शिक्षा तंत्र संघर्ष के अस्तित्व को ही छुपाने में लगा हुआ है, हमारे बच्चे गांधीजी की शहादत के इस प्रतीकात्मक महत्व को समझने से वंचित रह जाते हैं। हिन्दू-मुस्लिम द्वन्द्व के अस्तित्व को न स्वीकारने की नीति के कारण, इस द्वंद्व से उपजी किसी भी घटना के विश्लेषण से बचा जाता है। . . .

अगर पाठ्य सामग्री का उद्देश्य बच्चों को गांधी जी की हत्या की बात और उसके महत्व को बताना था तो हिन्दू मुस्लिम द्वन्द्व, विभाजन की राजनीति, हिन्दूवादी संगठनों की राजनीति और अपने अंतिम दिनों में गांधी जी की निराशाएं – इन सबकी बारीकियों में जाना ज़रूरी हो जाता है।

क्या हम इन मुद्दों पर चर्चा आगे बढ़ा सकते हैं? आपके अपने अनुभव, मत और अहसास क्या कहते हैं? शिक्षण सामग्री के और भी कई प्रयोग हुए हैं, उनका रुख क्या रहा है?

उम्मीद है कि आप इन महत्वपूर्ण और संवेदनशील मसलों पर अपने मत और अनुभव लिखकर चर्चा आगे बढ़ाएंगे।

संपादक मंडल

. . . अंगों के बीच भरा खून

धक्क . . . और एक नली के खुले सिरे में से खून निकलकर शरीर के अंगों के बीच की खाली जगह में गिर जाता है। गिरकर फैलता हुआ खून सब अंगों को सरोबार करता हुआ धीरे–धीरे रिसता है और शरीर के पिछले हिस्से में इकट्ठा होता रहता है. . विश्वास नहीं होता परन्तु यह सचमुच में मात्र वर्णन है एक जीव के परिसंचरण तंत्र का। खुद में हम सब इतना डूबे रहते हैं कि खबर ही नहीं रहती कि अपने आसपास की दुनिया इतनी फर्क हो सकती है।

ये जीव हैं कीट (Insect) समुदाय के – कॉकरोच, मच्छर, टिड्डे, झींगुर वगैरह वगैरह। हम इंसानों की तरह इनका खून नसों में नहीं बहता बल्कि शरीर में यूं ही भरा रहता है – अंदर के तमाम अंगों को सरोबार किए।

हर कोशिका तक ऑक्सीजन पहुंचाने की ज़िम्मेदारी कीट के खून की नहीं होती; उसका तो काम है सिर्फ पचे हुए भोजन को ले जाना। इस खून को शरीर में आगे पीछे करने के लिए कीट के शरीर के ऊपरी हिस्से में एक नलीनुमा रचना होती है। यही इसका दिल है – अब सोचिए कहां हमारा दिल और कैसा कीट का दिल!

इस नली के पीछे के हिस्से में कुछ छेदनुमा रचनाएं होती हैं, जिनमें वॉल्व लगे होते हैं। यही वॉल्व इस नलीनुमा रचना के अंदर खून को गति देने का काम करते हैं। यह नली लगातार सिकुड़ती फैलती रहती है। जब यह फैलती है तो खून पीछे बने छेदों से होकर इसमें घुस आता है। और जब ये सिकुड़ती है तो आगे की नलीनुमा रचनाओं से बाहर निकल जाता है। कॉकरोच में ये नलियां स्पष्ट दिख रही हैं। इनमें इस हृदय का यही काम है – खून को आगे पीछे करना।

अब कोई नस तो है नहीं इसलिए खून नली से बाहर निकलने के बाद शरीर के अंदर अंगों के बीच पड़ी खाली जगह में भर जाता है – अंगों को नहलाते हुए। और इस तरह शरीर की हर कोशिका तक पहुंच जाता है उसे भोजन पहुंचाने के लिए।

इस तरह का रक्त परिसंचरण तंत्र खुली परिसंचरण पद्धति (Open Circulatory System) कहलाती है, क्योंकि इसमें खून को दिल तक लाने ले जाने के लिए नसें आदि नहीं होतीं। इसीलिए बंद पद्धति वाले हम जैसे जीवों के मुकाबले इनमें खून के प्रवाह की गति भी धीमी होती है।
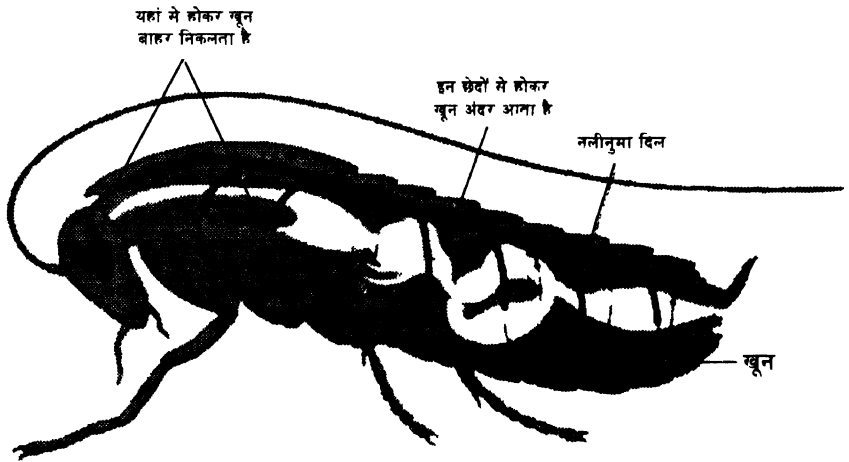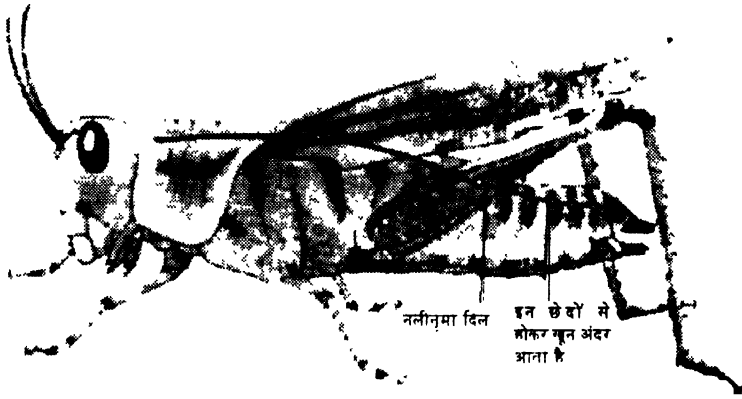
ऊपर टिड्डा और नीचे कॉकरोच (तिलचट्टा): खुली रक्त परिसंचरण पद्धति वाले इन जीवों का शरीर के अगले भाग से पीछे के भाग तक गया नलीनुमा दिल और शरीर में भरा खून। जब नली फैलती है तो पिछले हिस्से में बने छेदों से होकर खून नली में प्रवेश करता है और जब सिकुड़ती है तो आगे के सिरे और लटकती हुई नलियों से होकर बाहर निकल जाता है; जहां यह खून यूं ही अंगों के बीच पड़ी खाली जगह में भरा रहता है।